इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD - 22
कबीर का विशेष अध्ययन

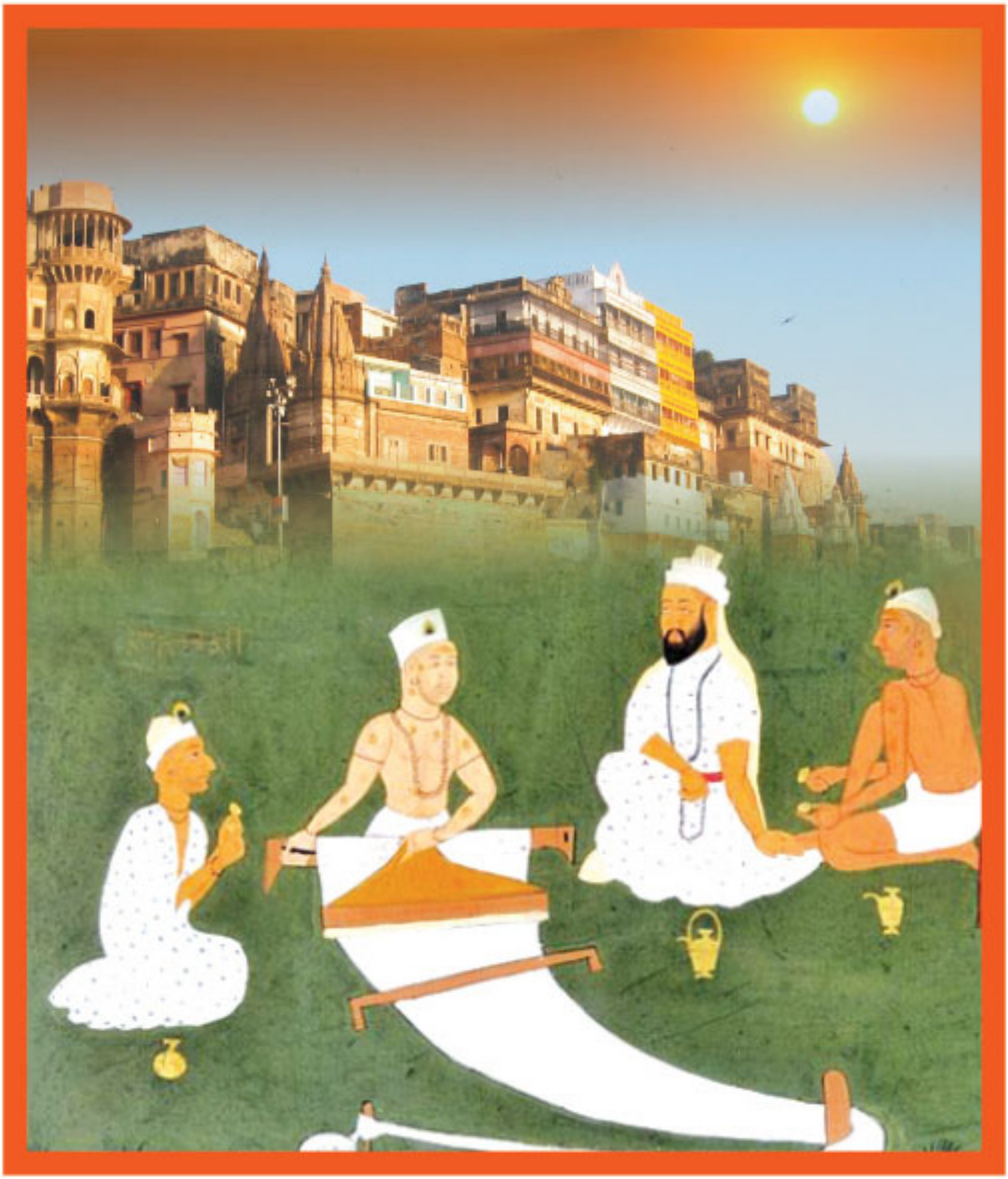

कबीर की कला

3

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD-22
कबीर का विशेष अध्ययन

खंड

3

कबीर की कला

इकाई 10
कबीर की भाषा 5

इकाई 11
कबीर काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली 35

इकाई 12
कबीर के काव्य में छंद और अलंकार 54

इकाई 13
कबीर की कविता में व्यंग्य 71

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. कमला प्रसाद

प्रो. चन्द्रकला पांडेय (सेवानिवृत्त)
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन (सेवानिवृत्त)
कोचीन विज्ञान एवं तकनीकी
विश्वविद्यालय, कोचीन

प्रो. नूरजहाँ बेगम (सेवानिवृत्त)
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद

संकाय सदस्य
प्रो. सत्यकाम (निदेशक)
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
(पाठ्यक्रम संयोजक)
प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संकल्पना
प्रो. रामबक्ष
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संपादक
डॉ. अर्चना वर्मा	10	प्रो. सत्यकाम प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. ओमप्रकाश तिवारी नई दिल्ली	11	**पाठ्यक्रम संयोजक एवं खंड संपादक** प्रो. स्मिता चतुर्वेदी मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. शिवप्रसाद शुक्ल इलाहाबाद	12	
प्रो. रामबक्ष नई दिल्ली	13	**सहयोग** डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय परामर्शदाता, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग :
श्री नवल कुमार, मानविकी विद्यापीठ,
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

आवरण :
सुश्री अरविंदर चावला
एडीए ग्राफिक्स, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

जुलाई, 2019

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019

ISBN-978-93-89200-32-4

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सत्यकाम, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित

खंड 3 का परिचय

प्रस्तुत पाठ्यक्रम का खंड 3 'कबीर की कला' पर आधारित है। कबीर मध्यकालीन निर्गुण काव्यधारा के महत्वपूर्ण कवि है। वास्तव में निर्गुण काव्यधारा के संत कवि सामाजिक दृष्टि से हाशिए पर थे। उनकी कविता में गहरी मानवीय करुणा और समाज की वर्जनाओं के प्रति विरोध का भाव दृष्टिगत होता है। इस मानवीय करुणा का संबंध शोषित और पीड़ित समाज से था। सामाजिक पाखंड, कर्मकांड और दिखावे की प्रवृत्ति से उन्होंने अपना विरोध भी व्यक्त किया। कबीर की कविताओं में मानवीय करुणा के साथ सामाजिक–धार्मिक कर्मकांड का विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। विचारों से उनकी भाषा भी प्रभावित हुई है। कबीर निर्गुण काव्य परम्परा के कवि हैं और इस परम्परा पर नाथों, सिद्धों की वाणियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर के साहित्य में दार्शनिक चिंतन और उनकी कविताओं में प्रयुक्त शब्दावली पर नाथों, सिद्धों और भारतीय दर्शन के परिभाषिक शब्दों की छवि दिखाई देती है। कबीर ने भक्ति से योग का समन्वय कर एक विशिष्ट साधना पद्धति का संधान किया। इसमें एक ओर तो भक्ति है और दूसरी ओर नाथपंथी अंतस्साधना की सहज अनुभूति दृष्टिगत होती है।

कबीर की कला से सम्बद्ध इस खंड में चार इकाइयाँ हैं जिनमें कबीर की कविताओं की भाषा, उनके काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली, काव्यरूप और निहित व्यंग्य पर विचार किया गया है। खंड की इकाई 10, कबीर की भाषा है। इस इकाई में कबीर की भाषा की विशिष्टताओं की चर्चा की गई है। कबीर की भाषा के संदर्भ में अनेक विद्वानों के विविध मतों का विश्लेषण किया गया है और साथ ही कबीर की भाषा में निहित शब्दशक्ति, बिम्ब आदि की भी जानकारी प्रस्तुत की गई है। कबीर के विचारों की वाहक, उनकी भाषा में निहित व्यंजना शक्ति है। वे अत्यंत मार्मिक ढंग से सामाजिक पाखंडों और कुरीतियों पर प्रहार करते हैं। इस इकाई में इन सब बिंदुओं का सोदाहरण विश्लेषण किया गया है।

इकाई 11 'कबीर काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली' है। कबीर की कविता में साधना और योग की चर्चा सम्बंधी रूपकों का आधार सिद्धों और नाथों की शब्दावली मानी जाती है। दार्शनिक शब्दावली किन अर्थों में कबीर के यहाँ अभिव्यक्त हुई है इसका विश्लेषण इस इकाई में किया गया है। विशिष्ट शब्दावली में निहित अर्थ को समझकर आप कबीर के काव्य का बेहतर विश्लेषण कर सकेंगे।

इकाई 12 'कबीर के काव्य में छंद और अलंकार' है। मध्ययुगीन वैचारिक परिवेश में प्रयुक्त काव्य भाषा के अनुरूप ही कबीर की कविता में स्वाभाविक रूप से छंदों और अलंकारों का निदर्शन होता है। कबीर ने अपनी उक्तियों में सायास अलंकारों या छंदों का प्रयोग नहीं किया अपितु अपने विचारों को अधिक गहराई से समझाने के लिए लोक के रास्ते साहित्य में आ गए हैं। कबीर की कविता में कौन-कौन से छंद और अलंकार स्वाभाविक रूप से दिखाई देते हैं, इसका परिचय इस इकाई में विस्तार से दिया गया है।

इकाई 13 'कबीर की कविता में व्यंग्य' है। कबीर ने ईश्वर के निर्गुण रूप की आराधना की। अन्य मतों का खंडन करने में या कर्मकांडों का विरोध करने में कबीर का व्यंग्य प्रखर हो उठा। कबीर की कविता में व्यंग्य की अनेक अवस्थाएँ हैं जिन पर इस इकाई में विस्तार से विचार किया गया है। आप इन इकाइयों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करें साथ ही कबीर से सम्बद्ध आलोचनात्मक पुस्तकों का भी पठन करें।

शुभकामनाओं के साथ!

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 10 कबीर की भाषा

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 कबीर की भाषा का व्याकरणिक स्वरूप

10.2.1 'बोली हमरी पूरब की' : भ्रम और निराकरण

10.2.2 वाचिक परम्परा की लिखंत में भाषा की रूप-अव्यवस्था

10.3 काव्यात्मक भाषा और कबीर

10.3.1 कबीर की काव्यभाषा के सौंदर्य का मूल्यांकन

10.3.2 कबीर की भाषा की काव्यात्मकता के स्रोत

10.4 साधना की भाषा

10.5 भावना की भाषा

10.6 प्रहार की भाषा

10.7 रहस्य की भाषा

10.7.1 साधना की रहस्याभिव्यक्ति

10.7.2 भावना की रहस्याभिव्यक्ति

10.8 अर्थान्विति के पाठकीय आग्रह

10.9 कबीर की भाषा के काव्यात्मक उपकरण

10.9.1 अर्थ की अनेक दिशाएँ : शब्दशक्ति

10.9.2 अलंकार, बिम्ब और प्रतीक

10.10 कबीर का काव्यसंगीत और रसानुभूति

10.11 सारांश

10.12 अभ्यास प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

- कबीर की भाषा के स्वरूप को लेकर विद्वानों के मतमतांतरों की चर्चा कर सकेंगे;
- उनकी भाषा की लोकात्मकता और बहुस्वरूप को रेखांकित कर सकेंगे;
- कबीर की भाषा में काव्यात्मकता के स्रोतों को पहचान सकेंगे, तथा
- कबीर की कविता में काव्यभाषा के औपचारिक उपकरणों के प्रमाणों पर रोशनी डाल सकेंगे।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

10.1 प्रस्तावना

आज कबीर न केवल मध्यकालीन कविता बल्कि सम्पूर्ण भारतीय काव्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण कवि के रूप में प्रतिष्ठित किए जा चुके हैं। उनके काव्य के प्रति रुचि और जिज्ञासा की व्यापकता को देखते हुए उन्हें विश्वकाव्य का महत्वपूर्ण कवि कहा जा सकता है। लेकिन अभी बहुत समय नहीं हुआ जब उनको समाजसुधारक, उपदेशक और भक्त के रूप में महत्वपूर्ण मानते हुए भी उनके कवित्व को स्वीकृति संकोचपूर्वक ही दी जाती थी।

कविता का अस्तित्व भाषा में होता है। बहुत समय तक काव्यात्मक भाषा के स्वरूप के विषय में कुछ बनी बनाई मान्यताओं के आधार पर यह तय होता आया था कि कविता किसे कहते हैं। कबीर की भाषा उन मान्यताओं से भिन्न कसौटी की अपेक्षा रखती है। वह एक सामान्य आधुनिक पाठक को अपरिचित सी प्रतीत होती है। यह अपरिचय कालगत फासले के कारण भी है और भावगत विलक्षणता के कारण भी। काव्यभाषा का व्याकरण भाषिक संरचना का भी होता है और सौंदर्य संरचना का भी। कबीर की कविता दोनों ही स्तरों पर समस्याग्रस्त है। उनकी कविता में पारिभाषिक शब्दावली भी कहीं-कहीं ऐसा घटाटोप सा उत्पन्न कर देती है कि कविता के मर्म तक पहुँचना कठिन जान पड़ता है। इसके समाधान के लिए एक तैयारी की जरूरत है लेकिन कबीर की कविता का मर्म उन्हें इतना महत्वपूर्ण कवि बनाता है कि वहाँ तक पहुँचना इस तैयारी का अपने आप में पर्याप्त पुरस्कार कहा जा सकता है।

इस इकाई में आपको कबीर की भाषा के व्याकरणिक स्वरूप और काव्यात्मक सौंदर्य का परिचय दिया जा रहा है। कबीर की भाषा के व्याकरण को जानना उनके काव्य-मर्म तक पहुँचने के लिए अनिवार्य है क्योंकि अनेक पाठांतर अनेक अर्थांतर भी उपस्थित करते हैं और अन्तिम रूप से सही पाठ का निर्धारण मुश्किल जान पड़ता है। सदियों का अंतराल देखते हुए यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता। यह गड़बड़झाला हर पाठक को अपनी रुचि के अनुकूल अर्थ का पाठ ग्रहण करने की और अपना कबीर गढ़ लेने की स्वतंत्रता देने को पर्याप्त है क्योंकि पाठ की नवीन प्रविधियाँ हमें यह भी बताती हैं कि कोई भी व्याख्या और अर्थान्विति अंतिम नहीं है और कवि द्वारा संकेतित होते हुए भी पाठ अंततः पाठक द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन पाठक के लिए कवि के संकेत से संचालित होना अनिवार्य है।

10.2 कबीर की भाषा का व्याकरणिक स्वरूप

कबीर ने स्वयं भी 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' कह कर अपनी भाषा के स्वरूप की व्याख्या का एक सरल समाधान प्रदान कर दिया। आसानी से उनकी भाषा को एक अनपढ़ व्यक्ति की भाषिक असावधानी कह कर रफ़ा दफ़ा किया जा सकता है। लेकिन अगर शब्दशः भी देखें तो कबीर इन पंक्तियों में इतना ही कह रहे हैं कि उन्होंने अपने हाथ से नहीं 'लिखा।' यह 'न लिखने की स्वीकृति है ' अशिक्षित होने की नहीं। कवि 'अज्ञेय' ने हमारे देश की विराट वाचिक परम्परा के साक्ष्य से इस ओर ध्यान दिलाया था कि अनपढ़ होने का अर्थ अशिक्षित होना नहीं है। कबीर इसका उदाहरण और प्रमाण हैं।

10.2.1 'बोली हमरी पूरब की' : भ्रम और निराकरण

कबीर ने अपनी भाषा के बारे में स्वयं कहा था, 'बोली हमरी पूरबी।' उनका मंतव्य अपनी भाषा का व्याकरणिक स्वरूप बताना नहीं था लेकिन उनकी भाषा के स्वरूप पर आरम्भिक विचार करने वालों ने इसका तात्पर्य शब्दशः लेते हुए सवाल को उलझा लिया।

विचारदास ने बीजक की भूमिका में लिखा है, 'इस ग्रंथ में संयुक्त प्रांतीय अवधी भाषा का; बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है। इनकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है, जिसको सर्वसाधारण हिंदी जानने वाले भी समझ सकते हैं।' रेवरेंड अहमदशाह ने भी कहा, 'बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों के आसपास की बोली है।'

'कबीर ग्रंथावली' के सम्पादक बाबू श्यामसुंदरदास ने भूमिका में कबीर की भाषा पर विचार करते हुए इस मत का संशोधन किया है - 'यद्यपि उन्होने स्वयं कहा है, 'मेरी बोली पूर्वी' तथापि खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। ' ... उनका बनारस निवास 'पूरबी' से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है; किंतु उनकी रचना में बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं का भी पर्याप्त मेल है, यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो कुछ कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में कबीर की भाषा पर टिप्पणी करते हुए कहा है 'साखी की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। '

'बुद्धचरित' की भूमिका में वे कहते हैं, 'कबीर ने यद्यपि पंचरंगी मिलीजुली भाषा का व्यवहार किया है, जिसमें ब्रजभाषा क्या, उस खड़ी बोली और पंजाबी तक का पूरा-पूरा मेल है, जो पंथ वालों की सधुक्कड़ी भाषा हुई, पर पूरबी भाषा की झलक उनमें अधिक है।'

भाषिक प्रदेश की दृष्टि से 'पूरबी' के नाम से कौन सी भाषा को पहचाना जा सकता है? वे बनारसवासी थे जो भोजपुरी का क्षेत्र है। कबीर की भाषा में यदा-कदा भोजपुरी का आभास निस्संदेह है लेकिन अवधी का रंग गहरा है। प्रादेशिक दृष्टि से उसे भी 'पूरबी' के खाते में रखा जा सकता है लेकिन समस्या इतने से सुलझती नहीं दिखती। ब्रज, पंजाबी और राजस्थानी हिंदी भाषी प्रदेशों की 'पच्छिमी' बोलियाँ हैं। कुल मिलाकर कहना ग़लत न होगा कि व्याकरणिक प्रकृति को देखते हुए कबीर की भाषा बहुरंगी है और ये सभी भाषाएँ उनको अपना कवि मानने का दावा कर सकती हैं। डॉ. उदयनारायण तिवारी उन्हें भोजपुरी का कवि मानते हैं, सूर्यनारायण पारीख 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा पर विचार करते हुए प्रसंगवश कहते हैं, 'विषमता होने पर भी हम यहाँ पर यह कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भाषा राजस्थानी है और कबीर को वैसे ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसे 'ढोलामारू' काव्य के कर्ता को।'

कबीर-काव्य का अपना भाषा-प्रदेश पूरब से पश्चिम तक व्याप्त दिखाई देता है और इस भाषाभूगोल में पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी भाषाएँ शामिल हैं। आचार्य शुक्ल ने इनमें 'खड़ी बोली और पंजाबी तक का पूरा पूरा मेल' को 'पंथ वालों की सधुक्कड़ी भाषा' का नाम दिया है। कबीर के भाषारूपों पर विचार प्रकट करने वाले भाषाविज्ञानियों में बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी, भोलानाथ तिवारी आदि प्रमुख हैं। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भी प्रसंगवश उनकी भाषा पर टिप्पणी की है और इस पंचमेल, खिचड़ी या सधुक्कड़ी स्वभाव की व्याख्या में कहा है कि तत्कालीन हिंदुस्तानी कवियों की काव्यभाषा ब्रज और कभी-कभी अवधी थी और कबीर ने भी इनका प्रयोग किया। लेकिन उनकी ब्रजभाषा में कभी-कभी पूर्वी (उनकी मातृभाषा भोजपुरी) का रूप झलक जाता है और जब वे भोजपुरी में लिखते हैं तो उनमें ब्रजभाषा के तत्व दिखाई पड़ते हैं। ये सभी मत 'पूरबी' को कबीर के भाषानिर्णय की कुंजी मानते हैं।

कबीर की भाषा के विवेचन में बहुत समय तक उसको 'पूरबी' मानते रहना संभवतः स्वयं कबीर की एक बानी को शब्दशः ग्रहण करने का परिणाम है - 'बोली हमारी पूरब की हमैं लखै नहिं कोय/हमको तो सोई लखै धुर पूरब का होय।' - हमारी बोली पूरब की है, हमें कोई समझ नहीं सकता। हमें केवल वही समझ सकता है जो स्वयं धुर पूरब का हो। लेकिन 'पूरब' प्रतीकात्मक है, यथार्थ दिशासूचक नहीं - 'पूरब दिसा हंस गति होई' तथा 'गगन घटा घहरानी/पूरब दिस से उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।' हंस का अर्थ मुक्तात्मा साधक है। योग साधना की शब्दावली में पूरब दिशा का प्रतीकार्थ सहस्रार की दिशा है। साधक की जागृत कुंडलिनी सहस्रार की दिशा में यात्रा करती है और पूरब दिशा से उठने वाली बदरिया (सहस्रार का स्पर्श) अमृतजल बरसाती है। विशिष्ट शब्दावली की इकाई में आप इन धारणाओं का परिचय पाएँगे। यहाँ केवल इतना समझ लेना ही काफी है कि 'बोली हमरी पूरबी' का अर्थ 'आध्यात्मिक अनुभव' की बोली है, कबीर का व्याकरणिक स्वरूप इसके सहारे नहीं समझा जा सकता।

10.2.2 वाचिक परम्परा की लिखंत में भाषा की रूप-अव्यवस्था

न केवल कबीर बल्कि आधुनिक युग के पहले के उन सभी कवियों की भाषा के विवेचन विश्लेषण के लिए विशेषज्ञता की ज़रूरत है जिनकी कविता स्वयं उनके द्वारा या उनके समक्ष किसी समकालीन द्वारा लिपिबद्ध नहीं हुई। काफी समय तक वह वाचिक परम्परा के 'मुखहिं जनाई बात' के प्रवाह में जीवित रही। आधुनिक काल के पहले तक, मुद्रण की तकनीक के पहले तक का ज्ञान वाचिक परम्परा में ही जीवित रहता आया था। वाचिक परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए उसे हस्तलिखित पोथियों में लिपिबद्ध रखने की भी परम्परा थी। इस तरह सुरक्षित पोथियों में अनेक पाठांतर या पाठभेद मिलते हैं। इनका कारण या तो यह है कि परम्परा में ही कुछ रूपांतर मूल की तरह प्रचलित हो जाते हैं क्योंकि वाचिक परम्परा में एक स्मृतिजन्य तरलता होती है या फिर लिपिकार की असावधानी, अज्ञान या प्रमाद इसका कारण हो सकते हैं। अगर कविता के रचनाकाल और उसके लिपिबंधन में पर्याप्त अंतराल हो तो प्रायः इन पोथियों में भाषा का स्वरूप वह मिलता है जो कविता की प्रथम लिखंत के समय होता है। ऐसे में कवि के अपने प्रयोग का केवल अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर की कविता के विषय में पाठांतरों का यह उलझाव कुछ अधिक ही है क्योंकि उपलब्ध हस्तलिखित पोथियाँ सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की हैं और परस्पर सुदूर भाषा केंद्रों से प्राप्त हैं। राजस्थान और काशी-गोरखपुर के कबीर पंथियों के यहाँ कबीर की पाठ-संरचना में क्रमशः राजस्थानी और अवधी-भोजपुरी का प्राधान्य है और गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित कबीर-बानी में पंजाबी का। 'संत कबीर' में डॉ. रामकुमार वर्मा का और 'कबीर ग्रंथावली' में बाबू श्यामसुंदर दास का कबीर-काव्य-संचय पंजाबी पाठ परम्परा के निकट है। डॉ. पारसनाथ तिवारी और डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने पाठालोचन का आधार ग्रहण करते हुए अपनी कबीर ग्रंथावलियों का संम्पादन किया है। पाठालोचन को पाठविज्ञान अथवा पाठ का वैज्ञानिक अध्ययन माना जा सकता है जिसके द्वारा विभिन्न प्रतियों की तुलना से प्रामाणिक पाठ के निर्धारण का प्रयास किया जाता है और अन्य पाठांतरों की सूचना भी दी जाती है। डॉ. शुकदेव सिंह ने अवधी-भोजपुरी को कबीर की आधारभाषा मानकर उसे निर्णायक महत्व देते हुए 'बीजक' का सम्पादन किया है।

निष्कर्ष कुल मिलाकर यह निकलता है कि कबीर की कविता व्याकरण की दृष्टि से हिंदी की भाषिक विविधता से परिपूर्ण है और उसमें ब्रज, अवधी, राजस्थानी, खड़ी बोली के अंश हैं, भोजपुरी और पंजाबी का भी प्रभाव है।

जैसे –

ब्रज : 1. कौन पूत को काको बाप
2. लेटयो भौमि बहुत पछितान्यौ

राजस्थानी : 1. क्या जाणौं उस पीव को कैसे रहसी रंग
2. जीभड़ियाँ छाला पड़या

खड़ी बोली : 1. आउँगा न जाउँगा मरूँगा न जिउँगा
2. तूं तूं करता तूं हुआ मुझमें रही न हूं

अवधी : 1. जस तू तस तोहि कोइ न जान
2. साध संगत मिलि करहु विचारा

भोजपुरी : 1. फूल भल फूलल मालिन भल गाँथल
2. फुलवा बिनसि गैल भौंरा निरासल

और यह भी देखा जा सकता है कि जो पंक्ति 'बीजक' में अवधी की संरचना में प्राप्त होती है, वही 'कबीर ग्रंथावली में' ब्रजभाषा में और 'संत कबीर' में पुरानी खड़ी बोली में।

बीजक में : फिरहु का फूले फूले
(अवधी) जब दस मास अउँध मुख होते सो दिन काहे भूले।
'संत कबीर' में : काहे भइया फिरते फुलिया फुलिया
(पुरानी खड़ी बोली) जब दस मास उरध मुख रहता सो दिन कैसे भूलिया
'कबीर ग्रंथावली' में : फिरत कत फूल्यो फूल्यो
(ब्रजभाषा) जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यो

(रेखांकित शब्द कोष्ठक में संकेतित भाषारूप हैं।)

कबीर की इस विविधस्वरूपा भाषा के रहस्य को सुलझाने के लिए अनेक अनुमान लगाए जाते रहे हैं। सबसे अधिक प्रचलित अनुमान और सरल समाधान यह है कि रमता जोगी कबीर निरंतर यात्रा करते रहते थे और अपनी कविता को उन्होंने 'लिखा' नहीं, कहा वह भी देशाटन करते हुए अनेक बोलीभाषा क्षेत्रों में। सम्भव है कि देशाटन में वे जब जहाँ गए तब उन्होंने वहीं के भाषारूप अपना लिए या फिर यह कि श्रोताओं ने भी अपनी स्थानीयता और योग्यता के अनुसार उसमें कुछ मिश्रण कर दिए। दूसरा यह कि जैसे कबीर देशाटन को जाते थे वैसे ही अनेक यात्री तीर्थाटन के लिए काशी आते थे और अपनी काशीयात्रा से लौटते हुए सुनी-गुनी जो बानियाँ साथ लेकर लौटते थे वे उनकी अपनी भाषा में ढल जाती रही होंगी। कबीर-बानी के साथ भी शायद यही हुआ हो। इसके अलावा उनका काव्य लिखंत में बदलने के पहले कई पीढ़ियों को वाचिक परम्परा से विरासत के रूप में मिलता रहा। लिखंत में बदलने से भाषिक रूप में स्थायित्व आता है। उसके पहले ही ये रूपांतर हो चुके थे। तीन तरह की प्रतिलिपियों से तीन तरह की पाठ परम्पराएँ चलीं और उनकी स्थानीयता के अनुसार मिश्रण होता गया।

ये अनुमानसंगत निष्कर्ष हैं। तर्कसंगत निष्कर्षों की बात करें तो पहला निष्कर्ष यह हो सकता है कि कबीरपंथ की तीन पूर्वोक्त पाठ-परम्पराओं के तीन अलग-अलग व्याकरणिक रूप हैं। 'फिरहु का फूले फूले' वाले उदाहरण से इस धारणा को बल मिलता है। लेकिन यह उदाहरण देते हुए डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इस ओर भी ध्यान खींचा है कि इन पंक्तियों में भी रेखांकित शब्दों के अतिरिक्त शेष भाषा मिश्रित ही है अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं कि कबीर ने स्वयं तो अपनी एक ही भाषा में लिखा था, उनके

लिपिकर्ताओं ने लिखंत में रूपांतर कर दिए। 'बोली हमरी पूरबी' के अर्थ का विवेचन करते हुए डॉ. युगेश्वर लिखते हैं कि पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिंदी का विभाजन आधुनिक भाषाविज्ञान का विषय है। अतः कबीर का अपनी बोली को 'पूरबी' कहना किसी भाषावैज्ञानिक सजगता का परिणाम नहीं हो सकता। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा है कि कबीर का रचनाकाल मोटे रूप से ईसा की पंद्रहवीं सदी है। उस समय तक भाषा का आज की तरह राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि रूपों में पूरी तरह से विशेषीकरण नहीं हुआ था। सामान्यतः ऐसे भाषारूप पर्याप्त थे जो आज किसी एक ही बोली के साथ सम्बद्ध हो चुके हैं लेकिन तब अन्य क्षेत्रों में भी चलते थे। जिसे आज हम भाषा का मिश्रित रूप समझते हैं वह तब भाषा का सहज रूप था और आज भी ब्रज या अवधी या भोजपुरी में भिन्नताओं के बावजूद इतनी निकटता है कि एक का वक्ता दूसरी को भी कमोबेश समझ सकता है। संत-सूफी कवियों की भाषा और दक्खिनी हिंदी भी भाषा के मिश्रित रूप ही थे।

लेकिन विशेषतः कबीर की भाषा में यह मिश्रण बहुत अधिक है और ऐसा भी नहीं कि परस्पर बहुत निकट भाषाओं का मिश्रण ही हो। उनकी भाषा को रचने में पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली का हाथ भी है। इसके भी सम्भाव्य कारण की तलाश करते हुए कबीरकालीन भाषिक परिदृश्य की छानबीन की कोशिश करनी चाहिए। नाथ परम्परा के साथ कबीर का एक गहरा सम्बंध था। नाथों की भाषा-परम्परा भी इस सम्बंध के विस्तार का एक अंग है। नाथों का समय ईस्वी सन 1000 के आसपास का काल है। हिंदी साहित्य में यह आदिकाल का आरम्भ है जो मोटे तौर पर ईस्वी सन 1400 तक चला। तब परिनिष्ठित भाषा के रूप में जो अपभ्रंश प्रचलित और प्रतिष्ठित थी और जिसकी परुष और कोमल शैलियाँ डिंगल और पिंगल के नाम से जानी जाती थीं, उसमें राजस्थान और दिल्ली के आसपास के भाषारूपों का आधिक्य था। बहुत सम्भव है कि डिंगल राजस्थानी का और पिंगल ब्रजभाषा का पूर्वरूप रही हो। यह अपभ्रंश उत्तर भारत में स्थानीय बोलियों की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रचार–क्षेत्र वाली थी जैसा कि आदिकालीन साहित्य से प्रमाणित होता है। इसी परिनिष्ठित अपभ्रंश का लोकप्रचलित रूप नाथ साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। नाथों की भाषा में राजस्थानी रूपों का बाहुल्य था, शायद इसलिए कि वे राजस्थान से सम्बंधित थे।

कबीर का समय ईस्वी सन 1398 से 1518 तक के बीच सम्भावित है। नाथों की भाषा परम्परा और विचार-विश्वास परम्परा के साथ काल की दृष्टि से भी उनका निकट सम्बंध है। यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय का काल है। कबीर की भाषा राजस्थानी और दिल्ली के आसपास वाली अपभ्रंश के कालविकसित रूप और ब्रज-अवधी-भोजपुरी के संयोग से रचित है। सम्भावना यह है कि जिस काल में कबीर अपनी कविता कह रहे थे। उस काल में इन बोलियों का स्थानीय विशेषीकरण पूरा नहीं हुआ था लेकिन प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। अर्थात वे अपने समय की मानक रचनाभाषा में कविता कर रहे थे। जो भी रूपांतर और पाठांतर दिखाई देते हैं उनमें कुछ योग तो लिखंतकारों और पाठ परम्पराओं के स्थानीय प्रभावों का है और कुछ शायद इस बात का भी कि हम अद्यतन भाषारूपों की विशिष्टता से उनकी भाषा को जाँच रहे हैं।

कबीर के पाठालोचन और पाठनिर्धारण से विद्वानों ने उनकी प्रामाणिक आधारभाषा का निर्धारण का प्रयास किया है। यह उनकी विद्वत्ता का प्रमाण तो है लेकिन जहाँ तक आधारभाषा की प्रमाणिकता का सवाल है, इसे हद से हद अनुमान सम्भव ही कहा जा सकता है। अंतिम निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि कबीर की कविता पाठ परम्परा

के विविध स्रोतों से विविध भाषा रूपों में हमारे पास आई है और यह उनके प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता का प्रमाण तथा तत्कालीन भाषा के रूप विकास का साक्ष्य है।

10.3 काव्यात्मक भाषा और कबीर

काव्यात्मक सौंदर्य और उससे मंडित भाषा का मंतव्य ठीक-ठीक क्या है, इसकी कोई एक अवधारणा नहीं है। शब्द और अर्थ का 'सहित भाव' या प्रगाढ़ सम्पृक्ति काव्य की सबसे सरल और प्राथमिक परिभाषा है, और बेहद व्यापक भी। इसी 'प्रगाढ़ सम्पृक्ति' के विश्लेषण और व्याख्या से अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य आदि काव्यशास्त्र की विविध प्रवृत्तियों, धाराओं, धारणाओं और सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। आधुनिक युग में आलोचना का भी एक प्राथमिक सरोकार यही तय करना है कि रचनात्मकता का स्वरूप निर्धारित करने में भाषा का क्या हाथ होता है और रचनात्मक भाषा किसे कहते हैं। इस विषय में हमारी अवधारणा कवि और कविता के मूल्यांकन में निर्णायक महत्व रखती है।

10.3.1 कबीर की काव्यभाषा के सौंदर्य का मूल्यांकन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ही कबीर की मान्यता का सूत्रपात साधक, सुधारक, उपदेशक के रूप में कर दिया था। वे उनकी प्रखर प्रतिभा के कायल भी थे लेकिन उनके कवित्व को मान्यता देने में उन्हें संकोच था। 'भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी' कबीर की उक्तियों में 'विलक्षण चमत्कार' तो उन्होंने माना किंतु केवल कहीं कहीं।

उनकी यह मान्यता बहुत समय तक कबीर के कवित्व के मूल्यांकन की धुरी बनी रही। न केवल कबीर बल्कि समूचे ज्ञानमार्गी निर्गुण काव्य को मानो मजबूरन काव्य होने की छूट देनी पड़ती रही, निस्संदेह यह कहते हुए कि इनमें कबीर विशिष्ट हैं। तब तक काव्यभाषा की पहचान के जो शास्त्रीय लक्षण स्वीकृत थे, वही शायद विद्वानों के लिए कबीर को मुक्तमन से कवि मानने में बाधक रहे होंगे। लेकिन कबीर की 'प्रखर प्रतिभा' के स्पर्श से उक्तियों का विलक्षण चमत्कार' काव्यमर्मज्ञों के लिए बहुत दिनों तक अनपहचाना नहीं छूट सकता था। पहली निर्भ्रांत घोषणा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की थी, 'भाषा पर कबीर का ज़बर्दस्त अधिकार था वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया—बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा दे कर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार सी नज़र आती है।'

कबीर-काव्य-सौंदर्य के मूल्यांकन का यह दूसरा चरण है। आचार्य द्विवेदी हिंदी के साहित्यिक इतिहास में आदिकाल को मध्यकाल तक ले जाने वाले, खोए हुए संवेदना-सूत्रों की तलाश में सिद्धों और नाथों से होते हुए कबीर तक गए थे। वे धर्म, दर्शन और साधना पद्धतियों के अध्ययन के क्रम में इस विकासयात्रा का अनुसंधान कर रहे थे। कबीर तक वे इस विकासयात्रा के अगले पड़ाव की तरह पहुँचे थे। कबीर के कवित्व का उद्घाटन उनके अध्ययन का 'बाई-प्रोडक्ट' था, उसी तरह जैसे उन्होंने कबीर की कविता को उनकी धर्मसाधना का बाई-प्रोडक्ट कहा है —'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के ज़रिए अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो और क्या है? फिर भी वह ध्वनित, वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है — बाई-प्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीज़ों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।'

कबीर के काव्यात्मक मूल्याकंन के तीसरे मोड़ पर पुरुषोत्तम अग्रवाल हैं। उनका आग्रह कबीर की कविता के भावोन्मेष और व्यंजना के पीछे की सहज मानवीय दृष्टि को पहचानने

का है। उनका कहना है कि हर मूल्यांकन में कबीर को किसी न किसी एजेंडा के तहत गढ़ा गया है। वे इस एजे

ंडावादी अध्ययन का विरोध करते हैं और मानते हैं कि कबीरकाव्य को ग्रहण करने के लिए 'आपका स्वयं भगत होना या नाथपंथ का जानकार होना कतई जरूरी नहीं। 'आचार्य द्विवेदी से भी वे असहमत हैं क्योंकि उनका एजेंडा कबीर को नाथ सम्प्रदाय से जोड़ना है। पुरुषोत्तम अग्रवाल उनको विशुद्ध कवि मानना चाहते हैं। उनकी काव्यवस्तु को वे 'अनन्त अस्तित्व से सम्बद्ध होने का विस्मय, उल्लास, संताप और सामाजिक अन्याय के प्रति रोष' की तरह पहचानते हैं।

कबीर के काव्यात्मक मूल्यांकन के एक सिरे पर रामचंद्र शुक्लीय धारणा का विस्तार है – केवल साधक, सुधारक और उपदेशक और किंचित कवि भी। इसके बाद अगले मोड़ पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापना है - 'मूलतः भक्त लेकिन उतने ही प्रबल कवि भी। अब तक के कबीर अध्ययन के अंतिम छोर पर 'अकथ कहानी प्रेम की' में पुरुषोत्तम अग्रवाल की प्रस्तावना है - केवल कवि। साधक, सुधारक, उपदेशक, या भक्त और कवि, या केवल कवि? कबीर-काव्य-सौंदर्य के मूल्यांकन के ये सोपान कवित्व और काव्यभाषा की धारणा में बदलाव का नतीजा हैं। पहली धारणा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की है जिसमें सूर, तुलसी और जायसी की काव्यभाषा को कवित्व का आदर्श मानते हुए भावोन्मेष की शक्ति को ही कवित्व का आदर्श मानने का आग्रह निहित है। आचार्य शुक्ल ने 'त्रिवेणी' नामक आलोचना-पुस्तक में इसी त्रयी को स्थापित किया है। इन कवियों की तुलना में कबीर की कविता अपने अधिकांश में विचार और उपेदश की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है हालाँकि निस्संदेह भावना भी वहाँ अपनी पूरी तड़प और बेचैनी के साथ उपस्थित है। दूसरी धारणा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की है जिसमें इस तड़प और बेचैनी को पहचाना तो गया है और उसके परिणाम की तरह उनकी रचना में 'कवित्व का चरम निदर्शन' भी देखा गया है लेकिन फिर भी कवित्व को केवल आनुषंगिक माना गया है क्योंकि द्विवेदी जी के लिए शायद 'केवल विशुद्ध' कवि होने की अपेक्षा भक्त और चिंतक होना ज़्यादा बड़ा था। और केवल भक्त और चिंतक होने के अलावा, उससे अधिक और अतिरिक्त कवि भी होना और भी ज्यादा बड़ा । शायद अपने से पहले तक का कबीर-काव्य-सौंदर्य का मूल्यांकन उन पर हावी रहा हो और इसलिए वे इसी तरह कबीर की कवित्वशक्ति की स्वीकृति को प्रस्तावित कर रहे हों, या फिर शायद उनके मन में 'विशुद्ध' कविता और 'केवल' कवित्व का अर्थ भाषा के साथ खिलवाड़ और शब्द चमत्कार का पर्याय हो। शायद इसीलिए वे ध्वनित वस्तु और ध्वनन शैली में अंतर करते हैं और भूल जाते हैं कि 'ध्वनि' की व्यापक परिभाषा में पाँच चीज़ें आती हैं - 'ध्वन्यते इति' के अनुसार व्यंजित अर्थ 'ध्वन्यते अस्मिन्' के अनुसार व्यंजनाप्रधान काव्य और 'ध्वन्यते अनेन्' के अनुसार व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ और स्वयं व्यंजनाशक्ति।

तीसरी धारणा पुरुषोत्तम अग्रवाल की है जिसमें भक्त और कवि के इस अंतर को मिटा दिया गया है। द्विवेदी जी के विचार में 'फोकट का माल', 'बाई-प्रोडक्ट', 'अपने आप बन गया' की तरह कबीर-कवित्व का विवरण पुरुषोत्तम अग्रवाल को शायद थोड़ा आपत्तिजनक लगता है, कृपापूर्वक विचार प्रतीत होता है। इसके प्रतिकार में वे बलपूर्वक कबीर को अपनी योग्यता और अधिकार से केवल कवि मानना चाहते हैं।

साधक, सुधारक, उपदेशक या भक्त और कवि, या केवल कवि? कबीर इनमें से क्या नहीं थे? इन कोटियों की कोई भी सार्थकता कबीर-कवित्व के आलोचनात्मक विकास के अध्ययन के लिए है अन्यथा कबीर साधक भी थे, सुधारक भी, उपदेशक भी, भक्त भी। अपने ये सभी काम उन्होंने कविता में ही किए इसलिए सबसे पहले वे कवि थे। कविता

में इन कामों का रूप और नाम बदल जाते हैं। अशोक वाजपेयी कबीर के इन कामों को उनका भी, 'अटल अध्यात्म, अथक प्रश्नवाचकता, सजग आलोचनावृत्ति, निर्गुण को कविता की अदम्य सगुणता से साधने की चेष्टा' कहते हैं। अटल अध्यात्म का अर्थ साधक और भक्त कबीर हैं, अथक प्रश्नवाचकता और सजग आलोचनावृत्ति का अर्थ सुधारक और उपदेशक कबीर। 'कविता की अदम्य सगुणता से निर्गुण की साधना' का अर्थ तो कबीर का कविकर्म है ही।

10.3.2 कबीर की भाषा की काव्यात्मकता के स्रोत

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो 'कबीरदास का पाठक जानता है कि उनके पदों में उसे कोई अनन्य साधारण बात मिलती है, जो सिद्धों और योगियों की अखंडताभरी युक्तियों में नहीं है, जो वेदांतियों के तर्क कर्कश ग्रंथों में नहीं है, जो समाजसुधारकों की हाय हाय में भी नहीं है। कोई अनन्यसाधारण बात। वह क्या है?' आचार्य द्विवेदी का उत्तर है, 'वह बात थी भक्ति।'

कबीर स्वयं अपनी भक्ति को प्रेम कहते हैं और प्रेम की कस्तूरी की बास को मुख में महकता और बानी में फूटता देखते हैं। यही उनकी कविता का उत्स है –

पिंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही, बानी फूटी बास।।

कवि के पास एक स्वयंप्रकाश, स्वयंप्रभा आस्था होती है और भक्त के पास भी। इसी आस्था के बल से कवि अपने स्वानुभूत सत्य को मूल्य की तरह ग्रहण करता है और भक्त भी। इसी आस्था के बल से कवि उसे लगभग शून्य में भी एक प्रामाणिक सत्य मानता और आत्मसात करता है और भक्त भी। यह आस्था कवि के अस्तित्व की विधि है और भक्त की भी। अपने अनुभूत सत्य के समक्ष कवि निष्कवच होता है और भक्त भी। यह आस्था कवि का प्यार है और भक्त का भी। अगर यह आस्था पिंजर में प्रेम की तरह प्रकाशित होकर मुख में महकती कस्तूरी की तरह बानी में बास बनकर फूट पड़े तो भक्त कवि भी बन जाता है। इस प्रगाढ़ता का अर्थ अपने व्यष्टि अस्तित्व को अखंड अस्तित्व में घुला देना है, बाहर भीतर का एक हो जाना है। कबीर आस्था और स्वयं के प्रगाढ़ एकत्व को उसकी हर छवि में अपनी भाषा में संक्रमित कर देने में सिद्ध हैं। उचित ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनको 'वाणी का डिक्टेटर' कहा है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में कहते हैं, 'कबीर में कई तरह के रंग है, भाषा के भी संवेदना के भी। हिंदी की बहुरूपी प्रकृति उनमें खूब खुली है।'

भाषा और संवेदना के योग से काव्यभाषा का जन्म होता है। संवेदना में विचार और भाव दोनों समान रूप से उपस्थित रहते हैं। जिन्हें कबीर को कवि मानने में संकोच है उनकी शिकायत प्रायः यही रही है कि कबीर-काव्य में विचार वैभव जितना है उतनी भ की क्षमता नहीं। उन आलोचकों के लिए कविता का निर्णायक तत्व रस है इसलिए कबीर उनको निराश करते हैं किंतु आज के पाठक के लिए कविता का काम केवल तन्मय करना नहीं। और प्रबंधेतर कविता के लिए वह सहज-सम्भव भी नहीं क्योंकि विभाव या पात्र और चरित्र न होने के कारण भावात्मक तादात्म्य और रसनिष्पत्ति का कोई आधार नहीं रहता। कविता की एक भूमिका चित्त को उत्तेजित और उद्दीप्त करने की भी है। विस्मय, चित्त का विस्तार और विस्फार भी कविता का धर्म है। कविता के माध्यम से वैचारिक उन्मेष भी एक आनंदमय उत्तेजना और दीप्ति उत्पन्न करता है क्योंकि कविता में विचार अपना भावात्मक स्थानापन्न खोज लेता है। वैसे कबीर की कविता में भावदशा को चरम तक ले जाने वाले प्रसंगों की भी कमी नहीं।

कविता शब्दविधान है और कवि उत्तेजित और उद्दीप्त करने की, विस्तारित और विस्फारित करने की, विस्मित करने की योग्यताओं और क्षमताओं को अपने शब्दविधान में संक्रमित करने में समर्थ होता है, इसीलिए वह कवि होता है। कविता के विषय में इस बदली हुई धारणा के कारण आज के पाठकों के लिए कबीर के कवित्व को पहचानना और मूल्य देना सहज सम्भव है।

कबीर के बहुमुखी कवि व्यक्तित्व के अनुकूल ही उनकी काव्यभाषा की प्रकृति भी बहुमुखी और अनेकपरतीय है। वह साधना की गूढ़ और जटिल भाषा है और भावना की सरल समर्पित भाषा भी है। वह साभिप्राय धुँधलके में डूबी रहस्य की भाषा है और पाखंड एवं आडम्बर के खुले यथार्थ से टकराती प्रहार की भाषा भी है। सारे आयामों को एकसाथ समेटकर, सारी परतों को एक साथ लपेटकर कबीर की काव्यभाषा का रूप खड़ा होता है और इनमें से एक को भी अस्वीकार करने का अर्थ उस कबीर को अधूरा ही स्वीकार करना है जो हमारी लोक-परम्परा की विलक्षणता को, उसकी अशिक्षित विद्वत्ता और आत्मसात ज्ञान को, विभिन्न ज्ञान परम्पराओं की वैचारिक बहुलता को सुरिक्षित रखते हुए भी उनके समन्वय और एकीकरण को अतः सबसे विशिष्ट और भिन्न उसकी सत्ता को अपने काव्य में साकार करता है।

10.4 साधना की भाषा

कबीर की भाषा उनके काव्य-संसार का प्रवेशद्वार भी है और स्वयं पूरा काव्यसंसार भी। पहले पहल उनकी भाषा से अपरिचय के कारण आपको शायद प्रवेशद्वार पर ही रुके रह जाना पड़े। लेकिन अपरिचय की बाधा को दूर करते ही आप उसी भाषा के सहारे इस संसार की सैर कर सकेंगे।

सबसे पहली अड़चन उनकी साधना से जुड़ी पारिभाषिक शब्दावली से होती है। सम्प्रेषण की पहली शर्त यह है कि वक्ता-श्रोता दोनों को शब्द और अर्थ के संदर्भों का जानकार होना चाहिए। कबीर की कविता में सिद्ध और नाथ धर्मसाधनाओं की परिभाषिक शब्दावली का खासा बड़ा भंडार है। इन्हीं की वजह से पहले पहल अर्थान्विति में पाठक को दिक्कत होती है और इन्हीं की वजह से कबीर के मूल्यांकन में विद्वानों ने पहले पहल एक प्रतिकूल राय कायम की। सिद्ध और नाथ परम्परा में इन शब्दों के निश्चित साधनापरक अर्थ हैं। उनके संदर्भ में एक बार उनसे परिचित हो जाने के बाद अर्थान्विति में कोई कठिनाई नहीं होती लेकिन जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, वे अपनी कविता में कुछ अंशों में इनके शास्त्रीय संकेत ग्रहण करते हैं लेकिन कई बार उनका प्रयोग रूपक की तरह भी करते हैं। अतः उनकी कविता में इनका अर्थ साधना की शब्दावली की तरह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

कबीर के व्याख्याताओं में बड़ा विवाद और मतभेद है कि उनकी साधना पद्धति क्या थी। कोई उनको वेद-उपनिषद की परम्परा से जोड़ता है तो कोई नाथ परम्परा से। कोई उन्हें दोनों से स्वतंत्र स्वयंसिद्ध मानता है। यहाँ इस विवाद में उलझने की जगह नहीं है। यहाँ हम उनकी भाषा पर विचार कर रहे हैं और वे स्वयं योग मत के उपासक भले ही न रहे हों, यह निर्विवाद है कि उनकी भाषा में योगसाधना की प्रचुर शब्दावली मौजूद है और उनकी अभिव्यक्ति में इस बात का प्रमाण भी कि वे योग की अनुभूति की गहराई से परिचित थे। जैसे –

अवधू, मन मेरा मतवारा
उन्मनि चड्या गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड कर गयांन ध्यांन करि महुआ भव भाठी करि भारा।
सुखमन नारी सहज समानी, पीवै पीवनहारा।

(कबीर अवधू को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि मेरा मन मतवाला हो गया है। इस पंक्ति को यूँ भी अर्थान्वित किया जा सकता है कि मेरा मन अवधूत है जो मतवाला है। उन्मन मुद्रा में गगन पर चढ़ कर रसपान कर रहा है और तीनों लोकों में प्रकाश छाया है। भव की भट्ठी में ज्ञान के गुड और ध्यान के महुए को चुआ कर, पीनेवाला सहज समाई हुई सुषुम्ना नाड़ी के आश्रय से इस महारस का पान कर रहा है)।

अथवा

अवधू, गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, वंकनालि रस पीजै।
मून बाँधि सर गगन समाना सुखमन यौं तन लागी।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता तहाँ जोगिणी जागी।
मनवाँ जाई दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद जागा।

(कबीर अपने मन-अवधू की आकांक्षा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि गगन मंडल को ही अपना स्थायी आवास बना लूँ। अमृत झरता रहे, बंकनाल से रसपान होता रहे, सदासुख उपजता रहे। सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से जोगिनी अर्थात कुंडलिनी के जागरण से मस्तक मूल से बँधा हुआ भी आकाश से जा लगा, काम क्रोध जलकर नष्ट हो गए, मन मगन, रसलीन होकर दरीबे में जा बैठा। कोई संशय शेष नहीं, अनाहद शब्द का संगीत गूँज रहा है।)

अनहद नाद, तारी लगना, सुरति-निरति, उन्मनी, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला, सुखमना, अमृत, जोगिणी, गगन, गगन-गुफ़ा, सहज-समाधि, गगन-घटा, निरंजन, खसम, सुधारस शून्य, पिंड, अंड, घट, हंसा, अच्छर, शब्द, गर्भत्रास आदि – सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जो कबीर की कविता को किसी न किसी रूप में नाथ परम्परा से जोड़ते हैं, इनमें से कुछ को आप ऊपर उद्धृत पदों में देख भी सकते हैं। लेकिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि स्वयं कबीरदास योगमत के उपासक थे। उनका पालन-योगमत के वातावरण में हुआ था इसीलिए उनकी युक्तियों में, भाषा पर तथा तर्कशैली में उस मत का प्रभाव रह गया है।'

लेकिन इसका अर्थ यह ज़रूर समझना चाहिए कि कबीर-काव्य को पूरी तरह से समझ पाने के लिए इस शब्दावली से परिचित होना ज़रूरी है क्योंकि कुछ समय तक या कुछ अंशों में वह अवश्य उनकी अपनी साधना की भाषा है, फिर कुछ अंशों में उस साधना से मोहभंग और विरक्ति की भी लेकिन इसके बाद भी शब्दावली उनके पास शेष रह जाती है और वे अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए भी इस शब्दावली का प्रयोग प्रतीक या रूपक की तरह करते हैं।

धर्मसाधनापरक दूसरी शब्दावली भी सूफ़ी और इस्लाम के साथ जुड़ी है –

वजूद, ग़ैब, दीदार, इश्क़, नूर, अल्लाह, खुदा, करीम, काबा, बुत, पीर, मुरीद, रब, मुर्शिद, रोज़ा, नमाज़, कलमा, भिस्त (बिहिश्त), बंदा, मस्ताना इत्यादि शब्द उनकी कविता में प्रायः काज़ी या मुल्ला को सम्बोधित करते हुए आए हैं लेकिन एकाध अपवाद को छोड़कर प्रायः इनका प्रयोग असहिष्णु असहमति के उद्देश्य से ही हुआ है। प्रायः यह शब्दावली उनकी अपनी अनुभूति की भाषा में दाखिल नहीं हो पाती है। साधनापरक पारिभाषिक शब्दावली का सम्यक परिचय आपको अलग से एक इकाई में दिया जा रहा है। अतः यहाँ हम विस्तार से उनपर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

10.5 भावना की भाषा

वैसे तो किसी कवि के भावसंसार का मतलब उसका समग्र कवित्व ही होता है, लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए हम उसे विभागों में बाँटते हैं। इसी सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि कबीर की कविता का भी एक विभाग तर्क और विचार से संचालित है और दूसरा भावप्रवणता से, अन्यथा उनका तर्क और उनकी भावना एक दूसरे को सम्मिलित ही करते हैं और साधना की तथा रहस्य की भाषा भी भावना की भाषा में बदल जाती है। कबीर की भावना को हम कैसे परिभाषित करें? आस्था और स्वयं का प्रगाढ़ एकत्त्व या अखंड अस्तित्व के साथ अपने व्यष्टि अस्तित्व की सम्पृक्ति उनकी भावना का अनंत स्वरूप है। सरल भाषा में कहें तो वे अपने मन को अपनी आस्था में विलय कर चुके हैं और उनकी आस्था यह है कि सम्पूर्ण अस्तित्व-चराचर जगत-एक ही अविच्छिन्न सत्ता है, इसलिए भेदभाव उत्पन्न करने वाली हर वस्तु को छिन्न-भिन्न कर देना चाहते हैं। लेकिन विश्लेषण के लिए उस अवच्छिन्नता के अनुभव को परिभाषित करना, उसकी अनेक छवियों को, उनके कालक्रमिक अथवा सहवर्ती अस्तित्व को रेखांकित करना ज़रूरी है।

कबीर में कोई तो बात थी, अपना रास्ता खुद तलाश करने वालों में होती है, जो वस्तुजगत को, उसके स्थूल, सतही अस्तित्व को, प्रकट और प्रत्यक्ष फिर भी केवल प्रतीयमान संसार को अंतिम और सम्पूर्ण सत्य नहीं मानने देती। वे जब कहते हैं - 'सुखिया सब संसार है खावै और सोवै। दुखिया दास कबीर है जागै और रोवे' तो इसी विकलता को अभिव्यक्त कर रहे हैं। इस विकलता का मूल कवि के कालबोध में है। काल का बोध नश्वरता का बोध है। वह वस्तुओं में असत्य का आभास उत्पन्न करता है। वे नश्वरता की अनुभूति और अमृतसत्य की तलाश में विकल थे।

इसी तलाश को लेकर वे पहले-पहल सम्भवतः योगसाधना में प्रवृत्त हुए थे। इसीलिए वह उनकी गहन स्वानुभूत साधना भी है, केवल शब्दावली नहीं। इसीलिए अवधू से उनका झगड़ा ब्राह्मण या काज़ी और मुल्ला के साथ झगड़े की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म व गहन तर्क-वितर्कपूर्वक होता है। लेकिन ले देकर योग साधना भी एक बाह्याचार ही है। इसलिए वहाँ उन्हें तृप्त करने वाला समाधान नहीं था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकार का अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा संसार अपनी-अपनी आग में जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिससे हृदय की बात कहते वही डंक मार देता, निर्भय भाव से, निःशंक होकर जिस आदमी से दिल की बात कही जा सके, ऐसा कोई मिल नहीं रहा था। वे व्याकुल भाव से कुछ खोज रहे थे पर पा नहीं रहे थे; सारा मन और प्राण संशय के विष से जर्जर हो गए थे। हृदय बेचैन था। ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्ग से यह सारा हलाहल अमृत हो जाता। ठीक ऐसे ही समय में रामानंद से उनकी भेंट हुई।'

वे गुरु के प्रति कृतज्ञता के अतिशय और उऋण न हो सकने की अपर्याप्तता से विकल थे। गुरुमंत्र के रास्ते सत्य के साक्षात्कार की सक्षमता से वे अपने निर्गुण प्रिय को सगुण अनुभूति की तरह महसूस करते और कभी मिलन के अतिशय उल्लास तो कभी विरह की अतिशय तड़प और बेचैनी से भी विकल होते हैं। भावना के स्तर पर कबीर 'अतिशय' के इर्दगिर्द और विकलता के कगार पर रहते हैं।

उनकी ये विकलताएँ जब भाषा में संक्रमित होती हैं तो उनकी कहनी में उसके प्रबल और प्रत्यक्ष निशान दिखाई देते हैं - आवेग की त्वरा और कम्प, समस्त चेतना का एक ही बिन्दु पर एकाग्र सघन संकेंद्रण, समर्पण के एकांत की गूँज, शब्द और अर्थ का समतोल तनाव। यह एक स्वतःस्फूर्त काव्यभाषा है, जो क्षणभर को भी मोहताज नहीं दिखाई देती। साखी

जैसे संक्षिप्त काव्यरूप के नपे तुले शब्द भी अर्थभार के धक्के से उमड़ते से चले आते हैं और कई बार तो अपरिचित होते हुए भी अपनी ध्वनि से ही अपने अर्थ को जता देते हैं।

'काल को अंग', 'सद्गुरु को अंग', 'विरह को अंग', 'परचा को अंग', 'रस को अंग' आदि की साखियों में विशुद्ध रूप से इन विकलताओं की ही वाणी है। पदों का संकलन इस तरह अंग/खंड/अध्यायों में विभाजित नहीं है कि अलग से निर्दिष्ट किया जा सके तथापि उदाहरण हर जगह प्रचुर हैं। इन कविताओं में उनकी असहिष्णुता, उद्धतता, प्रहार मुद्रा सब शांत है। भाषा कहीं सीधी सरल भावगर्भित अभिधा से ही उनकी व्यथा को अभिव्यक्त कर देती है –

ऐसा कोई ना मिला जासो रहिए लागि
सब जग जलता देख्या अपनी अपनी आगि
ऐसा कोई ना मिलै जासों कहूँ निसंक
जासों हिरदै की कहूँ सो फिरि मारै डंक

या उनकी मस्ती और उल्लास को भी –

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते
हमारा यार है हम में हमन को इंतजारी क्या
ख़लक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है
हमन गुरनाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या
न पल बिछड़े पिया हमसे न हम बिछड़े पियारे से
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से
जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या

तो कहीं स्वतःस्फूर्त सादृश्यविधानों से बिम्बसृष्टि करती है और 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के ज़रिए अकथ्य का ध्वनन करती हुई काव्यशक्ति का चरम निदर्शन' बन जाती है –

दस द्वारे को पींजरा तामें पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है, उड़े तो अचरज कौन।

यह अचरज-विस्मय-सृजन का मूल भाव है। विस्मय के कारण जानी पहचानी भी चीज़ें नए बोध, भाव और अर्थ का स्रोत बन जाती हैं। वही शरीर है और वही उसकी मरणशीलता-दुनिया का दैनिक सत्य लेकिन इस साखी में पंजर और पिंजर के ध्वनिसाम्य से शरीर पिंजरे के बिम्ब में बदल जाता है, उसमें रहने वाला पवन पंछी, पिंजरे के दस द्वार, सलाखों के बीच आने जाने का निर्बाध फासला। अचरज तो यही है कि हवा नाम की चिड़िया पिंजरे में टिकी रहती है। कबीर यह बताना चाहते हैं कि उसका उड़ जाना तो स्वाभाविक ही है।

इन प्रसंगों में साधना की शब्दावली भावना की शब्दावली बन जाती है। इसके भी उदाहरण बहुतेरे हैं, यहाँ स्थान की सीमा और विस्तार के भय से साखी भाग से एक उदाहरण दिया जा रहा है। यह सतगुरु के प्रति उनकी कृतज्ञता के अतिशय और भावविह्वलता की अभिव्यक्ति है –

सतगुर लई कमांण कर, बांहण लागा तीर
एक जु बाह्या प्रीत सूँ, भीतरि रह्या सरीर
सतगुर साँचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक
लागत ही भवैं मिलि गया, पड्या कलेजे छेक़

गुरु के प्रति कबीर की कृतज्ञता का पार नहीं। कबीर के जीवन में वह ऐसा कोई क्षण था जब वे जीवन में सार्थकता के बोध से वंचित, अकारण जीवन के व्यर्थ भार से त्रस्त थे। आज की भाषा में इसे अवसाद कहेंगे। गुरु का दिया रामनाम उनके लिए आस्था और विश्वास का मंत्र था, उनकी तड़प और बेचैनी का उपचार था। 'सबद' साधना की शब्दावली में अनहद नाद को कहते हैं समाधि की दशा में योगी भीतर के आकाश में अनहद का संगीत सुनता है। लेकिन कबीर केवल उतने से तृप्त नहीं हो सकते। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में केवल पिंड में, तत्रापि गगनगुफा या शून्यचक्र में यदि घटघटवासी मिलता है, तो कहीं बिस्मिल्ला ही ग़लत हो गया है, अगर कहते हो वह केवल भीतर है तो बाहर का यह सारा विश्वब्रह्मांड मारे लज्जा के पानी पानी हो जाता है। 'भीतर कहूँ तो जगमय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो। बाहर-भीतर, सकल निरंतर गुरु पारतापैं दीठा लो।' राम का 'बाहर भीतर सकल निरंतर' वाला रूप दिखाने वाले गुरु ने कबीर के जीवन के योगसाधना वाले अध्याय को आस्था और भक्ति के साथ जोड़कर उनकी बेचैनी का उपचार कर दिया। 'यह' अथवा 'वह' के विकल्प को 'यह भी वह और भी' के योग से 'सम्पूर्ण' के संकल्प में बदल दिया। गुरुमंत्र जीवनमंत्र था। प्रस्तुत साखी को इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में देखिए। कबीर यहाँ गुरु के दिए रामनाम को योगी के अनाहद नाद का स्थानापन्न बना रहे हैं। 'सबद' अब समाधि के बिना ही उनके अस्तित्व में गूँजता हुआ रामनाम का श्वाससंगीत है। गुरु के हाथों में यह 'सबद' तीर की तरह मर्मभेदी है। वह शरीर को भेदकर शरीर के भीतर ही रह जाता है, लगते ही 'अहं' और 'मम' के भाव को ढहा कर मिट्टी में मिला देता है और कलेजे में छेद-निरन्तर स्मृति, निरन्तर बेचैना बनकर पैठ जाता है।

साधना की शब्दावली में अपने आप भी एक रूपकीय अर्थवत्ता है, जो उसे काव्यात्मक बनाती है। उदाहरण के लिए गगनगुफ़ा को ही लीजिए। ज़रा सोचिए, मानवशरीर में जिसे हम कपाल या खोपड़ी कहते हैं, साधना की शब्दावली में गगनगुफ़ा उसी का नाम है। कल्पना कीजिए, मेरा कपाल आकाश की गुफ़ा है, या मेरा कपाल वह गुफ़ा है जिसमें आकाश ने अपना घर बना रखा है। कविता अपने आप दिख जाएगी।

10.6 प्रहार की भाषा

कबीर सत्यखोजी और सत्यदर्शी हैं और सत्य की रक्षा के क्रम में झगड़ालू भी। गुरु की कृपा से सत्य का अनुभव पा लेने के बाद वे मिथ्याचार को असहनीय पाते हैं। कबीर का झगड़ा हर परम्परा के बाह्याचार से है। अवधू, पाँड़े, काज़ी, मुल्ला कोई उनके प्रहार से बचा नहीं। बाह्याचार का मतलब मिथ्याचार यानी झूठ। कबीर का समय बाह्याचार-प्रबल काल था, हिंदू धर्मों का भी और इस्लाम का भी। कबीर ने निम्नलिखित पद में अपने काल की यह तस्वीर खींची है जिसे हम उनकी प्रहार-कविता के एक अंश की विषयसूची कह सकते हैं –

ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर।
ताथैं निसि वासुर गुन रमौं तोर।
इक पठहिं पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरंतर, रहै निवास।

इक जोग जुगुति तन हुंहि खीन, ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन।
इक हुंहि दीन, एक देहिं दान, इक करैं कलापी सुरापान।
इक तंत-मंत औषध (प्र) वांन, इक सकल सिद्ध राखैं अपाँन।
इक तीरथ व्रत करि काय जीति, ऐंसे राम नाम सूँ करैं न प्रीति।
इक धोम घोंटि तन होंहि स्याम, यूँ मुकुति नहीं बिन राम नाम।
सतगुरु तत्त कह्यौ विचार, मूल कह्यौ अनभै विस्तार।
जुरा मरण थैं भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर।

अर्थात ऐसा चरित्र देखकर मेरा मन मोहित हो गया, इस वजह से मैं निशिदिन तुम्हारे गुण में रम गया। 'कोई वेदपाठ करता है, तो कोई उदासी सम्प्रदाय से जुड़ा है, कोई दिगम्बर है तो कोई घरबारी, कोई जोगजुगुति में तन को क्षीण कर रहा है लेकिन रामनाम के संग लीन नहीं रहता, कोई दीन है, कोई दानी बन रहा है, कोई साधना में सुरापान को अनिवार्य मानता है, कोई तंत्र-मंत्र-औषधि की करामात दिखाता है, कोई सिद्ध अपने आपे की रखवाली में लगा है, कोई तीर्थ व्रत करता काया को जीतना चाहता है, वैसे रामनाम के साथ प्रीति नहीं करता। कोई धुआँ घोटकर शरीर को श्याम कर रहा है, लेकिन रामनाम के बिना इस तरह मुक्ति नहीं मिलती। सतगुरु ने विचारपूर्वक मूल अनुभव को विस्तार से कहा। कबीर पर राम की कृपा हुई, वे जरा मरण से निर्भय हो गए। यह सीधी सपाट वर्णन की भाषा है, एक तटस्थ नामगणना, मानों जिन्हें लोग साधना समझ रहे हैं, वे मात्र निरर्थक क्रियाकलाप हैं, इसीलिए एक बारीक सा व्यंग्य कविता में ध्वनित होता रहता है।

भारतीय चिंतनपरम्परा में बाह्याचारमूलक धर्म की आलोचना की सुदीर्घ परम्परा रही है। पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा, जातिपाँति का विरोध, बाह्याचार के प्रति अनास्था, धार्मिक कट्टरता एवं दुराग्रह के प्रति आक्रोश की भावना, समरसी-भाव से स्व-संवेदन ज्ञान पर जोर, चित्तशुद्धि पर बल आदि केवल कबीर के मस्तिष्क की उपज नहीं थी अपितु ये बातें कम से कम हजार वर्षों से चली आ रही थीं। कविता में खंडन-मंडन शैली और प्रहार की भाषा के साथ जुड़कर यह परम्परा सशक्त रूप से विकसित हुई। सुदूर अतीत से चली आती इस लम्बी लगातार बहस का जो प्रवेश हिंदी की बोलियों बानियों में हुआ, कबीर उसका सबसे मुखर और पुष्ट उदाहरण हैं। इन रचनाओं में कबीर की असहिष्णुता, अक्खड़ता, उपहास, व्यंग्य यहाँ तक कि हिकारत और कहीं-कहीं नफ़रत तक भी अपने चरम पर दिखाई देती है।

इस प्रहार के पीछे विवेकसम्मत तर्क भी है और भावजनित तल्ख़ी भी। अनुभवजन्य ज्ञान के बूते पर अटल आत्मविश्वास के साथ वे अपने हथियार भाँजते हैं। जिसको भी सम्बोधित करते हैं, उसके साथ वे उसी की भाषा में बात करते हैं। अवधू के साथ अवधूती साधना की भाषा में, पंडित के साथ हिंदू कर्मकांड की भाषा में और मुल्ला के साथ इस्लामी बाह्याचार की भाषा में:

अवधू अच्छरहू से न्यारा
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ करो गुफ़ा में बासा
गगना पवना दोनों बिनसे कहँ गया जोग तुम्हारा
गगना मद्धे जोती झलके पानी मद्धे तारा
घटिगे नीर बिनसिगे तारा, निकरि गयों केहि द्वारा
मेरुदंड पे डारि दुलैची, जोगी तारी लाया
सोई सुमेर पर खाक उड़ानी कच्चा योग कमाया

इँगला बिनसैं पिंगला बिनसै बिनसै सुखमन नाड़ी
जब उनमनि की तारी टूटै तब कहँ रही तुम्हारी
अद्वैत वैराग कठिन है भाई अँटके मुनिवर जोगी
अच्छर–लौकी गम्म, बतावै सो हैं मुक्ति विरोत्री।
कह अरु अकह दुहूँ ते न्यारा, सत्त असत्त के पारा
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव पारा।

एक और पद में कबीर ने कहा था, 'जोगी जग थैं न्यारा' जोगी दुनिया से अलग है। इस पद में वे कह रहे हैं कि जोगी अक्षर से/ब्रह्म से भी अलग है। मेरुदंड पर आसन ले कर योगी तारी लगाता है। पर योग की कमाई कच्ची है। जब तक उन्मनी है तब तक साक्षात है। फिर उसी सुमेरु पर खाक उड़ती है। इड़ा, पिंगला सुखमना विनष्ट हो जाती हैं, उन्मनी की तारी टूटते ही सब छिन्न-भिन्न हो जाता है - गगन तक पवन चढ़ा कर गगन-गुफा का वास, गगन में झलकती हुई ज्योति और जल में चमकता हुआ तारा -सब कुछ।

इस स्थिति की व्याख्या करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'योगी लोग एक प्रकार की जड़ समाधि की बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्यभ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकार को सिद्धि समझने लगता है... केवल शारीरिक और मानसिक कवायद से दिखने वाली ज्योति जड़ चित्त की कल्पना मात्र है। वह भी बाह्य है।' अवधू के साथ उनका एक स्नेह और समर्थन का सम्बंध भी है और विरोध में भी प्रायः सम्मान का भाव बना रहता है लेकिन पंडित या शेख़ पर 'आक्रमण करने को उद्यत होते हैं तो उतने सावधान नहीं होते जितने अवधूत या योगी पर आक्रमण करते समय दिखते हैं। कारण यह है कि 'पंडित' और 'शेख़' के ज्ञानभंडार को उन्होंने उतनी सूक्ष्मता के साथ नहीं देखा जितनी बारीकी से अवधूत की साधना देखी है। इसीलिए यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पंडित और शेख को इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितांत नगण्य जीव हों – केवल बाह्याचारों के गट्ठर, केवल कुसंस्कारों के गुड्डे .....'

पाँडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम न जपहिं अभागी
वेद पुरान पढ़त अस पाँडे खर चंदन जैसे भारा
राम नाम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुख छारा
वेद पढ्याँ का यहु फल पाँडे सब घटि देखै रामा
जन्म मरन थैं तो तूँ छूटै, सुफल हूँहि सब कामा
जीव बधतु अरु परम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई
आपन तो मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई
नारद कहै व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाइ
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ राम ल्यौ लाई।

अर्थात पाँडे, तुझे कौन सी कुबुद्धि लग गयी है कि अभागा तू रामजप नहीं करता। पाँडे वेद पुराण पढ़ता है, जैसे गधे पर चंदन का बोझा लदा हो। राम नाम का तत्त्व समझता नहीं, अंत में मुख पर राख पड़ेगी। वेद पढ़ने का फल तो पाँडे, यह होना चाहिए कि तुझे घट घट में राम दिखाई दें, तू जन्म मरण के फल से छूट जाए और सारे काम सफल हों। जीव की बलि करते हो, उसे 'परम' मान कर पूछते हो, अधरम कहाँ है? ख़ुद मुनिजन बन बैठे हो तो मैं कसाई किसको कहूँ? नारद कहते हैं, व्यास कहते हैं, शुकदेव से भी जाकर पूछ लो, कबीर भी कहते हैं कि जब राम से लौ लगाओगे, कुमति से मुक्ति तभी मिलेगी।

मींयौं तुम्हें सौं बोल्याँ बणि नहिं आवै
हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्हारा जसि मनि भावै
अलह अवल दीन करि साब, जोर नहीं फुरमाया
मुरसिद पीर तुम्हारे हैं को, कहो कहाँ थैं आया
रोजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई
सतरि काबे इक दिल भींतरि, जे करि जानै कोई
ख़सम पिछानि तरस करि जिय मैं, माल मनीं करि फीकी
आपा जाँनि साईं कूँ जाँनैं, तब है भिस्त सरीकी
माटी एक भेष धरि नाना, सब मैं ब्रह्म समानां
कहैं कबीर, भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन माँना।

अर्थात मिंया, तुमसे बोलना बन नहीं पड़ता। हम दुखियारे खुदा के बंदे हैं, तुम चाहे जो समझो। दीन का अव्वल साहब अल्लाह है, वह कोई ज़ोर ज़बर्दस्ती नहीं करता। कौन तुम्हारे पीर मुर्शिद हैं, कहो, कहाँ से आए हैं? रोजा, नमाज़ और क़लमा से बहिश्त नहीं होता। सत्तर काबे इसी एक दिल के भीतर है, जिसको बिरला ही कोई जानता है। धन-सम्पदा को मन में फीका करके हृदय में अपने स्वामी को पहचानो। अपने आपे को जानकर ही स्वामी को जाना जाय तभी बहिश्त में शरीक हुआ जा सकता है। एक ही माटी के अनेक स्वरूप हैं और हर एक में ब्रह्म समाया हुआ है। लेकिन बहिश्त से छिटक कर तुम दोज़ख़ को ही मन में बहिश्त मान बैठते हो।

बाह्याचार विरोध के निहितार्थ क्या हैं? बाह्याचार के ज़रिए कोई समाज या समुदाय अपने सदस्यों को एक सामान्य आचार्य संहिता में बाँधता है। ऐसी आचारसंहिता एक सामाजिक अनुबंध है जो अपने समुदाय की जीवनविधि को निर्धारित करती है। उसका अनुपालन एक पवित्र कर्तव्य के भाव से गर्भित होता है। वह जीवन का व्यवहारशास्त्र कहा जा सकता है। वह एकता का नहीं, भिन्नता का सूत्रधार है। कबीर के समाज में उसके अंतर्गत जात-पाँत, छूआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा व अन्य कर्मकांड आते हैं। एक स्तर पर बाह्याचार सामाजिक व्यवस्था का न केवल नियामक बल्कि पर्याय होता है और सारे भेदभावों और झंझटों का सूत्र भी। मध्यकालीन धर्मप्राण समाज में धार्मिक बाह्याचार ही सामाजिक व्यवस्था का रूप रहा होगा, उसकी जड़, शास्त्रीय मर्यादा। कबीर इसे पाखंड के रूप में देखते हैं जो उसकी वास्तविकता है। कबीर बाह्याचार पर व्यंग्य और प्रहार करके उस व्यवस्था और मर्यादा से विद्रोह करते हैं। आज के पाठक के लिए कबीर की प्रासंगिकता जितनी उनके सत्य में है उतनी ही, या शायद उससे भी अधिक उनके व्यंग्य में है। जिस तरह विकलता उनकी भाषा में संक्रमित होकर उसे भावनात्मक बनाती है वैसे ही विद्रोह उनकी भाषा में संक्रमित होकर उसे तेज, ओज और बल से भरता है और पैना बनाता है। भाषा तब चुनौती और ललकार बन जाती है। सादृश्यविधानों से उसकी तर्कप्रवणता और भी अधिक धार पर चढ़ती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की व्यंग्यभाषा का विश्लेषण करते हुए मानते हैं कि 'पंडित' और 'शेख़' के जो नमूने उन्होंने देखे हैं वे अपने-अपने ज्ञानकांड के सबसे निचले पायदान के कर्मकांडी जीव हैं इसलिए आक्रमण करते हुए उनका स्वयं पर आत्मविश्वास अटूट है और जिस पर वे निशाना साधते हैं उसके प्रति एक लापरवाही है। कबीर की व्यंग्यभाषा पर बहुत ही सार्थक टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं,' .....परंतु इस लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज-भाव और एक जीवंत काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान है। सच कहें तो आज तक हिंदी में ऐसा

जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ़ चोट करने वाली भाषा, बिना कुछ कहे भी कह देने वाली शैली और अत्यंत सादी किंतु अत्यंत तेज़ प्रकाशन भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले संतों और योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे....यह भाषा झकझोर देनेवाली है, जितनी सादी उतनी ही तेज़ ....कबीर के आक्रमणों में भी एक रस हैं; एक जीवन है।' इसके आगे कुछ कहना शेष नहीं रहता।

10.7 रहस्य की भाषा

कबीर की कविता में कहीं-कहीं हमारा सामना ऐसी अभिव्यक्ति से भी होता है जो पूरी तरह से हक्का-बक्का कर देती है क्योंकि हमारे जाने पहचाने संसार के संगति भाव से वह सर्वथा भिन्न, कार्य-कारण तर्क से उलटी और अपरिचित है। अक्सर तो वह विस्मय और अद्‌भुत तक ही जाकर हमें चमत्कृत करती है लेकिन कभी-कभी हमारे औचित्यबोध को धक्का मारकर हमारे नैतिक भाव को क्षुब्ध भी करती है। जैसे बीजक में संकलित निम्न पद –

जौ चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै
मैं कातौं सूत हजार, चरखुला जिन जरै।
बाबा मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहिँ तकाय।
जौ लौं अच्छा बर न मिलै, तौ लौं तुमहिं बिहाय।।
प्रथम नगर पहुँचते, परिगो सोग सँताप।
एक अचम्भा हम जौ देखा बिटिया ब्याहल बाप।।
.....।

योगपरम्परा के साथ सम्बंध से कबीर ने उलटवाँसी काव्यशैली पाई। उलटवाँ यानी असंगत। ऐसी उलटी बानियों का प्रचलित परम्परागत नाम 'संधाभाषा' था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसे 'संध्याभाषा' मान कर टीका की, एक ऐसी भाषा जिसमें गोधूलि बेला जैसी, अंधेरे और प्रकाश के धुँधलके सी अस्पष्टता हो पर ज्ञान के दीपक से जिसका अर्थ स्पष्ट हो जाए। लेकिन महोमहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत अधिक तर्कसम्मत प्रतीत होता है। उन्होंने माना कि मूलशब्द 'संधाभाषा' है जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'संधाय = अभिप्रेत्य' से हुई है। इसका अर्थ है 'अभिसंधि सहित या अभिप्राययुक्त भाषा' भट्टाचार्य जी के हवाले से आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि वेदों और उपनिषदों से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनमें 'संधा' जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं। परंतु बौद्ध धर्म की अंतिम यात्रा के समय यह अभिव्यक्ति शैली अत्यधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था। संधाभाषा अर्थगोपन के उद्‌देश्य से रूपकीय भाषा का विशिष्ट प्रयोग है। रूपक से तात्पर्य यहाँ काव्यशास्त्रीय रूपक अलंकार से नहीं बल्कि भाषा के अभेदमय सादृश्यविधान से है। इन रूपकों की अस्पष्टता इस बात से उत्पन्न होती है कि प्रस्तुत अर्थ अप्रस्तुत को हजम कर जाता है और साधना की शब्दावली के साथ परिचय के आधार पर उसका अर्थ लगाना पड़ता है। यह पहेली बुझाती हुई भाषा है, श्रोता की बुद्धि को छेड़ती, कुरेदती, चिढ़ाती, मुँह बिराती लेकिन साधना के सामान्य तत्त्वों से परिचित व्यक्ति के लिए पर्याप्त निशानियाँ देती हुई भी। ऊपर उद्धृत काव्यांश में कबीर कहते हैं कि चरखा (जीवनचक्र) जल जाय तो भी उसका रचयिता बढ़ई नहीं मरेगा। और चरखा भी जलेगा नहीं, मैं हजार सूत कातूंगी

(जीवनचक्र की मूल्यवत्ता अर्जित करूँगी।) बाबा (गुरु) मेरा ब्याह करो (मुझे परमात्मा से मिलाओ)। जब तक वर नहीं मिलता (मैं परमात्मा से मिलन के योग्य नहीं होती) तब तक तुम ही मुझको ब्याह लो (मेरा आधिपत्य ग्रहण कर मुझे इस योग्य बनाओ)। आपके ज्ञान के प्रथम परिचय से ही वर के विरह ने संतप्त कर दिया और यह अचम्भा हुआ कि बिटिया (जीवात्मा) बाप (परमात्मा) की परिणीता हुई।

10.7.1 साधना की रहस्याभिव्यक्ति

कबीर की कुछ उलटवासियाँ सिद्ध-नाथपरम्परा की उलटवाँ-बानी के सुनिश्चित अर्थ संकेत वाले प्रतीकों पर आधारित हैं। इनके सम्प्रेषण की आश्वस्तता या तो उस युग के श्रोताओं के बीच एक परिचित शब्दावली और प्रचलित काव्यशैली से उत्पन्न होती है या फिर यह साधकों की ही विशिष्ट श्रोता मंडली को सम्बोधित काव्य है। ऐसा ही एक प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत पद निम्नलिखित है –

एक अचंभौ देखा री माई।
ठाढ़ा स्यंघ चरावै गाई।।
पहिलै पूत पिछै भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।
जल की मछरी तरवर ब्याई, कूता को लै गई बिलाई।।
बैलहिँ डारि गोंनि घर आई, घोरे चढ़ि भैंसि चरावन जाई।
तलि करि साखा उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।।
कहै कबीर या पद को बूझै, ताकौं तीनिउ त्रिभुवन सूझै।

अचंभा यह देखा कि सिंह खड़ा होकर गायों को चरा रहा है (यहाँ कबीर कहते हैं कि जीव ने ज्ञानसिद्ध हो कर इन्द्रियों को वश में कर लिया है)। पहले पुत्र का जन्म हुआ फिर माँ का (जीव जन्म लेने के बाद ही माया का अनुभव करते हैं।) गुरु चेले के पाँव लग रहा है। (सिद्ध जीवात्मा के पास आत्मतत्व स्वयं पहुँच जाता है)। जल की मछली ने तरुवर पर चढ़ कर प्रसव किया (मूलाधार चक्र की कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से उठकर सहस्रार तक पहुँची)। बिल्ली कुत्ते को उठा ले गई (अंतर्मुखवृत्ति ने बहिर्मुखवृत्ति को काबू कर लिया।) बैल (अविवेक) को अनाज की बोरी (मन) डालकर घर (चैतन्य भाव में) ले आई। भैंस घोड़े पर चढ़कर उसे चराने गई। (अंतर्मुख अलस मन बहिर्मुख चंचल मन पर हावी हो गया।) पेड़ की शाखा ज़मीन के नीचे है और जड़ आकाश में, जड़ में तरह-तरह के फूल लगे हुए हैं (मनुष्य का अस्तित्व ऊर्ध्वमूल वृक्ष के समान है, मूल में ज्ञान और आनंद के फूल खिले हुए हैं)। इस पद पहेली को जो बूझ लेगा उसको तीनों लोक सूझ जाएँगे।

कैसे नगर करौं कुटवारी, चंचल पुरिख विचखन नारी
बैल बियाई गाय भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ
मकड़ी घर माषी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवे साँप पहरइया
नित उठ स्याल स्यंघ सो जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।

पूर्वोक्त उदाहरण के समान ही यह पद भी प्रसिद्ध और बहुउद्धृत है। केवल उदाहरण की तरह एक पद पर्याप्त होता लेकिन इन दोनों ही पदों को यहाँ एक विशेष उद्देश्य से दिया जा रहा है। यहाँ केवल आप इसका साधनात्मक अर्थ समझ लीजिए, शेष चर्चा आगे होगी।

इस नगर (शरीर/अस्तित्व) की पहरेदारी/रखवाली कैसे करूँ जिसका वासी चंचल पुरुष (मन) और विलक्षण नारी (माया) है? यहाँ बैल (अविवेक/अज्ञान) बियाता है और गाय (सद्बुद्धि) बाँझ रहती है। बछड़ा (इंद्रियाँ) हर समय दुहा जाता है। मकड़ी (माया) के घर मक्खी (चंचलता) को छाछ (अमृत) की और चील (लोभ) को माँस (विलास, विषयभोग) की रखवाली का काम दिया गया है, बिल्ली (बुद्धि) की नाव चूहा (काम भाव) खेता है, मेंढक (ज्ञान) सोता और साँप (अज्ञान) पहरा देता है। सियार (तृष्णा) सिंह (जीव) से जूझता है। कोई बिरला ही बूझेगा।

10.7.2 भावना की रहस्याभिव्यक्ति

मधुराभक्ति या प्रेमाभक्ति का भाव हो और निर्गुण आलम्बन-भावनात्मक रहस्य का यह मूल है। आराध्य भले निर्गुण हो, भक्त स्वयं तो सगुण है और उसके पास अलौकिक अनुभव के लिए भी इन पाँच इंद्रियों के अतिरिक्त ज्ञान व अनुभव दूसरा कोई उपकरण नहीं है। इन्हीं इंद्रियों को अंतर्मुख करके वह उन्हें अतीन्द्रिय अनुभव में समर्थ बनाता है जिसकी पुनःप्राप्ति उसे सात्त्विक अनुभावों के रूप में होती है। लौकिक और अलौकिक के इस विरोधाभास का हल उसके पास यही है कि अलौकिक अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए वह लौकिक अनुभव को रूपक बना लेता है। रहस्यानुभव में सम्बंध का विस्तार आत्मा के भीतर परमात्मा के लिए जिज्ञासा भाव से शुरू करके सम्बंध की कल्पना और तन्मय तादात्म्य तक जाता है। रूपक का अर्थ यहाँ सादृश्य-विधान का समस्त वाग् व्यापार है, केवल एक शास्त्रीय अलंकार नहीं।

आत्मा परमात्मा के बीच अलौकिक अनुभव की प्रतीति लौकिक सम्बंधों के आरोपण से होती है और लौकिक सम्बंध भी अलौकिक अतीन्द्रिय आभा से मंडित होकर अपने रहस्य को बनाए रखता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रसिद्ध पद –

दुलहिनी गावहु मंगलचार
हम घरि आए हो राजा राम भरतार
तन रत कर मैं मन रति करिहूँ पंचतत बराती
रामदेव मोरै पाहुनै आये, मैं जोबन मैं माती
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार
रामदेव संगि भाँवर लैहूँ, धनि धनि भाग हमार
सुर तैंतीसू कौतिग आये मुनिवर सहस अठ्यासी
कहै कबीर हम ब्याहि चलै हैं पुरिष एक अविनासी

इस पद में दाम्पत्य का सम्बंध और विवाह का रूपक है। व्याख्या में इसे केवल आत्मा वधू और परमात्मा भरतार कहकर हम इसे एक निर्वैयक्तिक निरपेक्षता देकर रक्तमाँसविहीन और निर्जीव कर देते हैं। कबीर ने इसे उत्तमपुरुष में लिखा है। एक जीवित व्यष्टि अनुभूति के योग के साथ इसे पढ़ा जाय तो नयी नवेली वधू की तनरत करके मनरति करने की उमंग और यौवन का उन्माद इसमें एक भावात्मक ऊर्जा भरता है लेकिन बरातियों की जगह पर पंच तत्व, घरातियों की जगह पर तैतीस कोटि सुर और अठासी सहस्र मुनिवर, वेदी की जगह पर शरीर-सरोवर, वेद उचारने वाले की जगह पर ब्रह्मा - ये भावजगत की अस्पष्ट, अनिर्दिष्ट रहस्यात्मकता को बनाए रखते हैं जो इसे मात्र लौकिक नहीं रह जाने देते, उसे एक ब्रह्मांडीय विस्तार प्रदान करते हैं। आश्रय लौकिक है लेकिन आलम्बन अलौकिक, यह रहस्यपूर्ण अनुभव है। वह इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त होकर भी अतीन्द्रिय है और किसी भी अन्य लौकिक अनुभव के समान वस्तुतः नहीं है। इसलिए बहुत बार ऐसा लगता है कि लौकिक सम्बंध के रूपक से भी कवि की अभिव्यक्ति की आकांक्षा को पूरा

संतोष मिलता नहीं है और वह इस सम्बंधभाव को उलट-पलट देता है। उदाहरण के लिए, इसी खंड में उद्धृत बिटिया और बाप के ब्याह वाले रूपक को देखिए। इसकी व्याख्या करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा ने कहा है, 'जिस समय कवि एकाग्र होकर दिव्य शक्ति का सौंदर्य देखता है, संसार से बहुत ऊपर उठ कर देवलोक में विहार करता है, उसी समय वह उस आनंद और भावउन्माद को सम्भाल नहीं सकता। उस मस्ती से दीवाना होकर वह भिन्न-भिन्न रीतियों से अपने भावों का प्रदर्शन करता है। शब्द उसे अगर मिलते भी हैं तो उसके विह्वल आह्लाद से वे बिखर जाते हैं ....भाषा की बागडोर उसके हाथ से निकल जाती है और वह असहाय होकर बिखरे हुए शब्दों की अनियंत्रित वाग्धाराओं में, टूटे फूटे पदों में अपने उन्मत्त भावों का प्रकाशन करता है....।

'मस्ती में दीवाना', 'विह्वल आह्लाद', 'आनंद और भावोन्माद' – ये कबीर की भावदशा को पकड़ने वाले सटीक शब्द हैं लेकिन 'भाषा की बागडोर हाथ से निकल जाती है' या 'अनियंत्रित वाग्धाराओं में अपने उन्मत्त भावों का प्रकाशन' कबीर की अभिव्यक्ति-शैली के मर्म तक न पहुँच पाने का परिणाम है। गूढ रहस्य के ज्ञान का भावप्रकाश कबीर को उसी लौकिक सम्बंधजाल के ताने बाने से स्वच्छंद कर देता है जिसे वे रूपक की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। 'कातूँगी सूजत हजार, चरखुला जिन जरै' के द्वारा कबीर की आत्मावधू न केवल जीवनचक्र के चलते रहने की कामना करती है, इस बात का संकेत भी कि हजारों सम्बंध सूत्रों के द्वारा वह अपने वर से जुड़ी है बल्कि इस जीवनचक्र में फैले और समाए हुए तंतुजाल के हर धागे में वही सम्बंध बुनियादी रूप से समाया हुआ है। लेकिन इन्हीं भावों को जैसा का तैसा लिख देने से लोकमर्यादा और औचित्य भाव छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक अर्थ में तो ऐसा सम्भव है कि वह बिटिया भी है और वधू भी, शिष्या भी और प्रेयसी भी, लेकिन लौकिक अर्थ में यह अनर्थ है। इसलिए रूपक की रचना में कभी लौकिक सम्बंधभाव का सहारा लिया जाता है तो कभी उस सम्बंध के लौकिक औचित्यों की तोड़फोड़ का भी। न केवल कबीर, सम्पूर्ण निर्गुणभक्ति के भावात्मक स्वरूप को पकड़ने के लिए उसकी भाषा के विशिष्ट रूपकीय स्वभाव को कुंजी की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। इनमें एक कोटि शास्त्रीय अर्थसंकेतों की है जिनका प्रयोग कबीर ने शास्त्रीय अर्थ में ही किया है। वहाँ पहेली को सुलझा लेना सहज सम्भव है लेकिन संत मत तक आते आते शास्त्रीय परम्परा में बहुत कुछ जोड़-घटाव हो चुकी थी और कवि कबीर की मौलिक कल्पना उसी शब्दावली और उसी शैली के भीतर रहते हुए भी अपनी मौलिकता के दावे और अभिव्यक्ति के आग्रह से चूक नहीं सकती थी। उनकी प्रयोगशीलता ने इस कोश में कुछ इजाफ़ा ही किया है लेकिन उस इजाफ़े की अर्थनिष्पत्ति की कोई शास्त्रीय परम्परा स्थापित नहीं हुई है इसलिए इनका अर्थसंकेत अनिश्चित, बहुत हद तक श्रोता पर निर्भर तथा अनुमानसम्भव है। अनेक संकेत अर्थनिष्पत्ति की काव्यशास्त्रीय परम्परा में रूढ़ हैं जैसे संख्यावाची शब्द। चार या दस का अर्थ दिशाएँ, पाँच का अर्थ पंचतत्त्व अथवा इंद्रियाँ रथ या तुरंग यानी मन इत्यादि। कल्पना और मौलिकता की जो छूट कबीर ने ली वह पाठक की कल्पना और मौलिकता को अर्थान्विति की छूट देती है।

10.8 अर्थान्विति के पाठकीय आग्रह

कबीर के मूल्यांकन के प्रथम चरण में आलोचक की सम्वेदना की सीमाओं के कारण उन्हें साधक, सुधारक और उपदेशक तो आसानी से मान लिया गया था लेकिन कवि मानने में बाधा थी।

आधुनिक पाठक की सम्वेदना की सीमाएँ दूसरी हैं। उसके लिए कबीर के कवित्त्व को स्वीकार करना तो आसान है लेकिन भक्ति और आस्था को स्वीकार करना कठिन। उसकी आधुनिक बुद्धि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और भौतिकवादी विचारधारा की पैरोकार है। उसकी

सहज परिणति निरीश्वरवाद है। आधुनिक आलोचक, वामपंथी आलोचक विशेष रूप से, मध्यकालीन कविता की व्याख्या में निरीश्वरता के दर्शन की सम्भावना से उल्लसित हो उठता है। कविता और साहित्य का स्वयंसिद्ध औचित्य उसे केवल अपने ऐतिहासिक समय का दस्तावेज होने में दिखाई देता है। इसलिए सामान्यतः भक्तिकाव्य और यहाँ इस प्रसंग में विशेषतः कबीर-काव्य की पढ़ंत वह सामान्य-जीवन-अनुभव की शब्दावली में करना चाहता है जिसे उनके ऐतिहासिक समय से जोड़ा जा सके। ऐतिहासिक दस्तावेज की तरह अगर उसे न भी पढ़ा जा सके तो भी कम से कम साधना से जुड़े पक्ष को वह या तो नकार देना या फिर उसे विशेष अर्थों से मुक्त करके सामान्य मानवीय अनुभव में अनूदित कर लेना चाहता है। इसके अभाव में मध्यकालीन कविता उसके लिए अपनी प्रासंगिकता और आकर्षण खो बैठती है। कबीर की कविता में निस्संदेह इस लौकिकता के पाठ की गुंजाइश है लेकिन वह पाठक की योग्यता पर आश्रित है।

इसका अर्थ यह नहीं कि कविता का अपना कोई अस्तित्व या उसकी लिखंत की अपनी कोई मंशा नहीं होती। जहाँ तक स्वयं कबीर का प्रश्न है, उनकी बानी को हम उनकी साधना से अलग नहीं कर सकते और कबीर को अगर कबीर की कविता से समझना हो तो साधना की भाषा को भी वैसे ही स्वीकार करना पड़ेगा जैसे भावना की भाषा को। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि कविता सदा-सर्वदा के लिए एक ही अर्थ में सीमित, निश्चित और रूढ़ हो जाती है। महान कविता का लक्षण यही है कि वह युग युगांतर के नए-नए संदर्भों में अर्थ के नवनवोन्मेष में समर्थ होती है और कल्पनाशील पाठक का भी लक्षण यही है कि वह परम्परा सिद्ध अर्थों की जड़ परतों को फोड़ कर भी नयी अर्थसम्भावनाओं की तलाश कर लेता है।

लौकिक अनुभव के रूपक से अलौकिक अथवा आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति की जाती है, सामान्य पाठक के लिए अपरिचित अलौकिक अनुभव की अर्थान्विति का सूत्र यही है। भावनात्मक रहस्यानुभूति के सिलसिले में यह रूपक लौकिक सम्बंधों को लेकर रचा गया है। 'हरि जननी मैं बालक तोरा', और 'राम मेरे पिउ, मैं राम की बहुरिया' से लेकर 'कबिरा कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ, गले राम की जेवड़ी जित देखे तित जाउ' तक की अनेक छवियों में इस सम्बंध भाव का विस्तार देखा जा सकता है और आलम्बन राम की निर्गुणता से उद्भूत रहस्यान्विति को सुलझाव दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'दुलहिनी गावहु मंगलचार' वाले पद में रूपक को पूरा करने के लिए विवाह का विधि-विधान चित्रित किया गया है। इसी नमूने पर भौतिक-सामाजिक यथार्थ को भी अलौकिक आध्यात्मिक अर्थ के लौकिक रूपकों की तरह भी पढ़ा जा सकता है, पढ़ा गया है। उदाहरण के लिए, डॉ. शम्भूनाथ पूर्वोक्त उदाहरण 'कैसे नगर करौं कुटवारा' की सामाजिक यथार्थपरक व्याख्या बहुत विश्वसनीय शब्दावली में करते हैं। व्याख्या की विश्वसनीयता इस बात से तय होती है कि वह कविता के अपने शब्दों से कहाँ तक सिद्ध होती है। डॉ. शम्भूनाथ की व्याख्या है, इस नगर की कोतवाली कैसे की जाए जहाँ के पुरुष चंचल और स्त्रियाँ विलक्षण हैं? इस नगर में बैलबुद्धि (मूर्खता) ब्याती (दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती) है और गाय (सृजनात्मकता) बाँझ हो गयी है और बछड़ा (अपनी संतति और भाई भतीजे) हर समय व्यवस्था का दोहन करते रहते हैं। रखवाले ही लुटेरे हो गए हैं, मकड़ी की तरह जाल फैलाते हैं, छाछ की रखवाली के लिए मक्खी नियुक्त की जाती है (दूध में मक्खी की अनुगूँज?) और चील को माँस की पहरेदारी पर लगाया गया है। भोली निरीह निर्बल जनता अनजान सोती है – चूहे की नाव को बिल्ली खेती है और मेंढक साँप की पहरेदारी में बेखबर सोया पड़ा है। चतुर, चालाक, बेईमान लोग निश्छल और योग्य वीरों का शिकार करते हैं – सियार सिंह के साथ जूझता है।

10.9 कबीर की भाषा के काव्यात्मक उपकरण

कबीर के कवित्व के आरम्भिक मूल्यांकन चाहे जो रहे हों, आज हम उनको असंदिग्ध रूप से एक बड़े कवि की तरह पहचानते हैं, ऐसे बड़े कवि के रूप में जो स्वयं अपने साँचों का निर्माण करता है, किसी काव्यशास्त्र का मुखापेक्षी नहीं होता। इसलिए कबीर की भाषा के काव्यात्मक उपकरणों को शास्त्रीय कसौटियों पर कसने और परिभाषाओं में खोजने की ज़रूरत नहीं। लेकिन इसमें भी संदेह नहीं कि उनकी कविता में भाषा के सर्जनात्मक सौंदर्य के तत्व शास्त्रीय यांत्रिकताओं के चौखटे के बाहर, स्वतःस्फूर्त छटा में मौजूद हैं। और ढूँढने ही चलें तो शास्त्रीय कसौटियों पर कसने लायक योग्यताएँ भी मौजूद मिलेंगी और शास्त्र को भी उसकी अपनी जकड़न से मुक्त कर रही होंगी।

श्री गोपीचंद नारंग ने कबीर की भाषा में 'धरती का नमक और जड़ों की ताकत' को उसके विशेष गुण की तरह पहचाना है। इनमें 'साधारण भाषा अपने असाधारणपन के साथ दृष्टिगत' होती है। उनकी कविता में कहावतें, सूक्तियाँ और लोकोक्तियाँ बहुतायत के साथ मौजूद हैं –

1. **जाको राखे साइयाँ, मारि न सक्कै कोय।**
   बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय।।
2. लूटि सकै तो लूटि लै सत्त नाम की लूट।
   पाछे फिरि पछताहुगे जब प्रान जाहिँगे छूटि।।
3. **जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठि।**
   मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि।।
4. सत्तनाम कड़ुआ लगै मीठा लागै दाम।
   दुबिधा में दोऊ गये माया मिली न राम।।
5. रात गँवाई सोय करि दिवस गँवाया खाय।
   हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय।।
6. आछे दिन पाछे गये गुरु से किया न हेत।
   अब पछतावा क्या करै जब चिड़िया चुग गई खेत।।
7. **काल्ह करै सौ आज कर आज करै सो अब्ब।**
   पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब।।
8. रूखा सूखा खाइ कै ठण्डा पानी पीव।
   देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जीव।।
9. साथी हमरे चलि गये हम भी चालनहार।
   कागद में बाकी रही तातें लागी बार।।
10. बाजन दे बाजंतरी, कलि ककुही मत छेड़।
    तुझे पराई क्या पड़ी अपनी आप निबेड़।।

कबीर के इन प्रसिद्ध दोहों की उन पक्तियों को देखिए जो मोटे अक्षरों में लिखित हैं। इन पंक्तियों में कितनी ही ऐसी हैं जिनका उपयोग आप स्वयं अपनी बात को वज़न देने के लिए, जमा कर कहने के लिए करते होंगे, बिना इस बात से अवगत हुए कि यह कबीर का काव्य है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह के शब्दों में 'इस काव्यभाषा में अनेक सारभूत सत्यों को चुभने वाली मार्मिक उक्तियों में ढालने की यह कला सपाटबयानी को भी सजीव और विचारोत्तेजक बना देती है।'

मुहावरों और कहावतों को दैनिक जीवन की भाषा का काव्य-तत्व कहा जा सकता है। इनमें अनुभवसिद्ध लोकज्ञान है जो सदियों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयोग से भाषा में घुलमिल कर उसके अभिव्यक्तिकोश का अंग बन जाता है। किसी भी भाषा में उनकी बहुतायत का मतलब एक प्रौढ़ संस्कृति की परिपक्व अभिव्यक्ति क्षमता है। कहावतें शताब्दियों के मानवीय अनुभव का निचोड़ होती हैं। वे भाषा के समृद्ध और सुविकसित होने की निशानी हैं।

भाषा में उनका आगमन कहाँ से होता है?

कबीर के उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि ऐसी, उनके जैसी, लोकस्वीकृत जनप्रिय कविता से, जिसे समाज अपनाकर अपने जीवन की भाषा बना लेता है। भाषा में ये इस कदर रच-पच जाती हैं कि सरसरी तौर पर उनसे गुजरते हुए हम उनकी काव्यात्मकता के प्रति सजग भी नहीं होते। ध्यान भी नहीं जाता कि ये कहावतें, सूक्तियाँ और लाकोक्तियाँ वस्तुतः कबीर की कविताएँ हैं और भाषा ने इन्हें आत्मसात करके इनको अपना कोश बना लिया है। गोपीचंद नारंग के शब्दों में 'सामूहिक स्मृति का हिस्सा, लोक अवचेतन में समाहित, भाषा की सदियों का संगीत कबीर की भाषा की तहों में समाया हुआ है। वे इनको 'भाषा के जीवाश्म' और 'भाषा का पुरातत्व' कहते हैं ।''

यह कवि की क्षमता का ही प्रमाण है कि उसकी भाषा सामूहिक स्मृति और अवचेतन की भाषा बनके अपने समाज में एक बहुत ताकतवर हैसियत अख्तियार कर लेती है। वह केवल अभिव्यक्ति की शैली नहीं, कथ्य भी होती है। कहावत बनने की प्रक्रिया की सदियों के दौरान वह अपने समाज की सामूहिक सम्वेदना के निरूपण का औजार ही नहीं, स्वयं सम्वेदना का पर्याय, जीवनमूल्यों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति और संस्कार बन जाती हैं। जैसा कि उदाहरणों से सिद्ध है, कबीर उसी कोटि के कवि हैं।

10.9.1 अर्थ की अनेक दिशाएँ : शब्दशक्तियाँ

शब्दशक्तियों में पहली अभिधा है, सरल शब्दों में सीधी बात। समूची भाषा प्राथमिक स्तर पर अभिधा है। अभिधा के बिना भाषा का अर्थ सिद्ध नहीं होता। वह शब्द और अर्थ के प्राथमिक सम्बंध से जुड़ी है इसलिए रूढ़ और निश्चित अर्थवाली भाषा कही जाती है।

लेकिन माना गया है कि 'अभिधा उत्तम काव्य है।' काव्यात्मक अभिधा में कवि की प्रतिभा व्यंजना का योग करती है। व्यंजना के सहारे अभिधा अपनी सरलता के सौंदर्य को सुरक्षित रखते हुए भी अपने रूढ़ और निश्चित अर्थ की जड़ता से मुक्त हो जाती है।

कबीर की कविता में अभिधा का सरल सौंदर्य कूट-कूट कर भरा है। अपने अनुभवसिद्ध कथ्य पर उनका आत्मविश्वास इतना गहरा है कि उन्हें किसी सजावट की ज़रूरत नहीं महसूस होती। कबीर की साखियाँ इसीलिए 'साखी' कहलाती हैं कि उनका कवि साक्षी है, वह जो कह रहा है, अपने अनुभव के साक्ष्य पर –

कबिरा आप ठगाइए और न ठगिये कोय ।
आप ठगा सुख होत है, और ठगा दुख होय।।

माँगन मरन समान है कोई मत मागो भीख।
माँगन ते मरनो भलो यह सत गुरु की सीख।।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।।

खुद ठगे जाने का सुख, माँगने और मरने की समानता, प्रेम के ढाई आखर व्यंजना के द्वारा ही सिद्ध अभिधार्थ हैं। अभिधा इन पंक्तियों के उपदेश को प्रामाणिक और

आधिकारिक बनाती है। संक्षिप्त सूक्तिपरक सरलता से कथ्य को एक निर्भ्रांत, स्थापित, सुनिश्चित मूल्य की प्रतिष्ठा मिलती है। कबीर की जो पंक्तियाँ कहावत बन चुकीं उनमें से अनेक अभिधा के इसी सरल सौंदर्य की प्रामाणिकता और आधिकारिकता से मंडित हैं और शायद इसीलिए सामान्य समाज के लिए उन्हें हृदयंगम करना सहज भी है।

लेकिन अभिधा कबीर की सीमा नहीं है। ऐसे भी कथ्य हैं जहाँ अभिधा पूरी नहीं पड़ती। लक्षणा और व्यंजना कल्पना की भाषा की शब्दशक्तियाँ हैं। परिभाषाओं की यंत्रविधि को अलग छोड़िए। भाषा में रूपकीय अर्थवत्ता की सृष्टि इन्हीं शब्दशक्तियों से होती है। अभिधा मुख्यार्थ तक सीमित रहती है लेकिन कविता कई बार, बल्कि अधिकतर, मुख्यार्थ के परे जाती है। अर्थबहुलता और तरलता काव्यभाषा का प्रमुख लक्षण है और इसका व्यवहारिक अर्थ मुख्यार्थ के परे जाने की क्षमता ही है। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए।

पत्ता झरता यों कहै सुनु तरवर वनराय।
अब के बिछुरै ना मिलें दूर परेंगे जाय।।

झरता हुआ पत्ता वनराज तरुवर से कहता है, इस बार के बिछुड़े दुबारा नहीं मिलेंगे, कहीं दूर जा पड़ेंगे। प्रकट है कि मुख्यार्थ बाधित है, मुख्यार्थ के योग से आप किसी रूढ़ि का सहारा लीजिए अथवा किसी प्रयोजन की कल्पना कीजिए तभी अर्थान्विति की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। पत्ता कहता है, क्या कह सकता है? कैसे कहता है? झरना ही उसका कहना है, झरने के द्वारा वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है। झरना-पेड़ से पत्ते का अलग होना – में बिछुड़ने की एक घटना निहित है । सुन लो वनराज तरुवर, अबके बिछुड़े तो दुबारा मिलना नहीं होगा कहीं दूर जा पड़ना होगा। इसका क्या अर्थ है? कि पहले भी बिछुड़े थे और तब दुबारा मिलना सम्भव हुआ था, लेकिन अबकी बार नहीं? पत्ते पेड़ से हर मौसम में झरते हैं और हर मौसम में फिर फूटते हैं। क्या वे हर बार नये पत्ते होते हैं? या एक बार का झरा पत्ता ही दुबारा फूटता, दूसरा जन्म लेता है? प्राकृतिक सत्य के तर्क से देखें तो नहीं, काव्यात्मक सत्य के तर्क से देखें तो पत्ता दरअसल पत्ता नहीं , अपने से भिन्न किसी सत्य का प्रतीक है। जन्म-जन्मांतर अथवा संसार में आवागमन की धारणा के पूर्वज्ञान के सहारे इन पंक्तियों के प्रयोजन की कल्पना करें तो अर्थव्यंजना यह होगी कि संसारवृक्ष से झरता हुआ पत्ता-प्राणी-घोषणा कर रहा है, वनराज तरुवर, सुनो, सुन लो, इस बार आवागमन का चक्र पूरा हुआ। मोक्ष मिला। अब हम सदा के लिए दूर हुए, अब मिलना नहीं होगा। लक्षणा के रास्ते हम यहीं तक आ पाते हैं कि तरुवर के साथ झरते हुए पत्ते का यह संवाद अपने से अलग किसी अन्य सत्य की अभिव्यक्ति का प्रयोजन रखता है। इसके बाद अर्थ की बागडोर व्यंजना के हाथ में चली जाती है। व्यंजना अभिधामूला भी होती है और लक्षणामूला भी। व्यंजना के पहले अर्थान्विति एक हद तक पहुँच चुकी होती है लेकिन फिर भी अभिप्राय अवरुद्ध सा प्रतीत होता है। व्यंजना उस अवरोध का उन्मोचन कर देती है। व्यंजित अर्थ की कोई सीमा नहीं। वह कहीं तक भी फैलता जा सकता है। उदाहरण के लिए इन्हीं पंक्तियों में 'अबके' का मुख्यार्थ 'इसबार' की बजाय 'अब से लेकर' पढ़िए। इसका पूरक वाक्यांश बनेगा, 'अब से लेकर तब तक', या 'अब से लेकर' पता नहीं कब तक। तब वनराज तरुवर का अर्थ सृष्टिवृक्ष या मूल जीवनवृक्ष भी पढ़ा जा सकता है जिससे झरता हुआ, अपने मूल परमतत्व से बिछुड़ता हुआ और आवागमन के चक्र में प्रवेश करता हुआ पत्ता इस आशंका का प्रतीक हो जाता है कि इस चक्र से पता नहीं कभी मुक्ति मिलेगी भी या नहीं। 'अबके बिछुड़े' में जो टीस और अवसाद है, वह इसी अर्थ की पुष्टि करता है। लेकिन यह अर्थ आवागमन की अवधारणा से परिचय का, भक्तिकाल की कविता को इसी अर्थ में देखते आने के अभ्यास का परिणाम है। कविता की अर्थान्विति की यह यंत्रविधि है। प्रकृति के साथ जुड़ी ऐसी कल्पना कबीर के बाद,

सदियों बाद, छायावादी कविता में देखने को मिली - 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, तुम शुष्क शीर्ण, जड़ पुराचीन', या 'मैं झरता जीवन डाली से साह्लाद शिशिर का शीर्णपात', या 'मुरझा कर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी'। झरते हुए पत्ते में बिछुड़ने की टीस और अवसाद की व्यंजना को इन कविताओं के समकक्ष और इनकी पूर्व-परम्परा की तरह देखें तो इन्हीं पंक्तियों को हम प्रकृति में चेतना के दर्शन की तरह भी पढ़ सकते हैं और काव्यशास्त्रीय शब्दावली में इसे आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण भी कह सकते हैं, और लक्षणा-व्यंजना के व्यापार से यहाँ तक भी आ सकते हैं।

भाषा की रूपकीय अर्थवत्ता का ज़िक्र पहले भी किया जा चुका है। इसका एक मतलब भाषा की रूप धारण करने की, चित्रात्मक और साकार होने की क्षमता है। इसका दूसरा मतलब सादृश्यविधान को एक शैली की तरह विकसित कर लेने की, भाषा का स्वभाव बना लेने की क्षमता है। इसका अर्थ अलंकारों के वर्गीकरण-विभाजन, भेद-उपभेद और उनकी परिभाषाओं का पसारा नहीं, उस मूल तत्व की पहचान है जो काव्यभाषा में तरलता और अर्थबहुलता का स्रोत है। पहली क्षमता रूपात्मक है, दूसरी रूपकात्मक।

10.9.2 अलंकार, बिम्ब और प्रतीक

लक्षणाशक्ति भाषा को लाक्षणिक बनाती है। लक्षणा अलंकार का स्रोत है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद के सिलसिले में भाषा की लाक्षणिकता को पहचाना था। लेकिन उसके सदियों पहले कबीर की भाषा में भी अलंकार अपनी यंत्रविधि के बाहर, लाक्षणिक भाषा की भूमिका में मौजूद थे।

कबीर की कविता के संदर्भ में अलंकार की पहली परिभाषा 'सौंदर्यमलंकारः' अधिकतर उदाहरणों में लागू होती है। 'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात अलंकृत करता है अतः अलंकार है। यह सामान्यतः मान्य परिभाषा है लेकिन उस अर्थ में अलंकार काव्यसौंदर्य के लिए सतही, बाहरी अतः वैकल्पिक होता है। कबीर की कविता में अलंकार जहाँ भी आते हैं वहाँ कविता के अंतरंग का अंश और अनिवार्य होते हैं। वे ठीक उसी जगह पर होते हैं जिसके वे हकदार हैं लेकिन आलोचक की प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से प्रायः ऐसी होती है कि मुरली मनोहर प्रसाद सिंह के शब्दों में 'कबीर की काव्यभाषा का मूल्यांकन शास्त्रीय मानदंडों पर करना व्यर्थ है यद्यपि अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत, प्रशंसा, काव्यलिंग जैसे अलंकारों के चमत्कार और उनकी छटा मिल जाएगी पर कृतिकार के कृतित्व की आत्मा अलंकार सौंदर्य में निहित नहीं है।' वास्तविकता यह है कि अलंकार कबीर की कविता में अनुभूति के मूलभूत सौंदर्य से अलग रह ही नहीं जाते। इनपर अलंकार की दूसरी परिभाषा 'अलम् करोति इति अलंकारः' अर्थात 'जो अभिव्यक्ति को पर्याप्त/यथोपयुक्त (अलम्) बनाए वह अलंकार' ज़्यादा सार्थकता से लागू होती है। इसलिए कबीर की कविता में अलंकार की चर्चा अलंकारों की परिभाषा या लक्षण उदाहरण के नमूने पर करना निश्चय ही व्यर्थ है लेकिन कविता के स्वाभाविक सौंदर्य के दुर्लभ अलंकृत (रूपकीय) उद्घाटन के उदाहरण की तरह करना सार्थक है।

कबीर की कविता से गुजरते हुए बहुत प्रत्यक्ष रूप से अनायास यह सत्य सामने आता है कि उनका उपमान जगत उनके आसपास के समाज और संसार की दैनिक ज़िंदगी से आता है – कुम्हार, धोबी, बुनकर, लोहार आदि उन पेशों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी से। एक सिरे पर धर्मसाधना, दर्शन, काव्यपरम्परा और दूसरे सिरे पर कृषि, व्यापार, दस्तकारी और हाटबाज़ार – इन सभी स्रोतों से आया हुआ उनका शब्दभंडार उनकी बानियों में एक दुर्लभ अनुभव की सर्वसुलभता का अहसास देता है –

1. सुरति ढीकुली लेजि ल्यौ, मन नित ढोलनहार

2. पाका कलश कुम्हार का बहुरि न चढ़ई चाक
3. कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आई
4. नैना नीझर लाइया रहट बहै दिन जाम
5. ताकू केरा सूत ज्यों उलटि अपूठा आँण

कृषि, व्यापार, दस्तकारी और हाट बाज़ार की शब्दावली में अमूर्त दार्शनिक और साधनापरक सत्यों को ढाल कर कबीर उन्हें दैनिक और व्यावहारिक जीवन अनुभव की मूर्तता और साकारता प्रदान करते हैं, उन्हें निकट, सम्भाव्य और विश्वसनीय बनाते हैं और अपनी कविता को इस सत्य का साक्ष्य भी बनाते हैं कि भारतीय जीवन में इहलोक और परलोक की चिंताएँ परस्पर विरोधी नहीं हैं। यह सत्य सदियों से हमारी वाचिक परम्परा में प्रवाहित है।

माली आवत देख कर कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये काल हमारी बार।।

माली को आते देखकर कलियाँ पुकार करती हैं, खिले हुए आज चुन लिए गए, कल हमारी बारी है। उपरोक्त उदाहरण में प्रयुक्त अलंकार कवि-प्रतिभा के चमत्कार का बहुत ही विशिष्ट उदाहरण है। नाम गिनाने के लिए इसे समासोक्ति अलंकार कहा जा सकता है। समासोक्ति एक उपमामूलक अलंकार है लेकिन उपमा उसमें व्यंजित होती है, कथित नहीं। उसमें उपमान के चित्रण से उपमेय का ज्ञान होता है लेकिन सिर्फ़ समासोक्ति कहने से इस कविता का पूरा सौंदर्य खुलता नहीं। इस कविता का विशेष प्रयोग कहने को अलंकार होकर भी वस्तुतः अलंकार जैसा है ही नहीं। अनुभूति और अभिव्यक्ति का अंतर यहाँ समाप्त हो गया है। अलंकार यहाँ स्वयं समूची कविता बन गया है। माली को आते हुए देखकर कलियाँ पुकार करती हैं – इस पुकार में दुहाई की, विकलता की ध्वनि है। पूरा खिलते ही चुन लिए जाने में पूर्णता के क्षण में ही जीवन के नष्ट हो जाने की ध्वनि है। और विडम्बना यह कि जिसने चुन लिया वह स्वयं माली है। वही माली है जिसने बीज बोया था, पौधा लगाया था, सींचा और पोसा था। उस माली के पास भी कली की पुकार निष्फल है।

यह अपने आप में पूरा एक भावचित्र है। एक ऐसा भावचित्र जिसमें नाटकीयता है, तनाव है, जीवन के एक जाने-पहचाने दैनिक अनुभव को नाटकीय अतिरंजना के साथ नयापन और ताज़गी दे दी गई है। यह ऐसी कविता का उदाहरण है जिसमें 'सौंदर्यमलंकारः' सत्य सिद्ध हुआ है। मूलतः शायद अलंकार का यही प्रयोजन रहा होगा लेकिन उस सौंदर्य को हम अलंकार की आज प्रचलित परिभाषा के सहारे पकड़ नहीं सकते।

सही अर्थों में यही रूपकीय अर्थवत्ता है। यही बिम्ब है। ऐंद्रिकता, मूर्तिमत्ता, भावसौंदर्य, नाटकीयता बिम्ब के तत्व हैं। अलंकार की यांत्रिकता के कारण वह बिम्ब से भिन्न और बहुत कुछ विपरीत सी धारणा बन गई है लेकिन निस्संदेह बिम्ब काव्यभाषा अथवा साहित्यिक भाषा का ऐसा उपकरण है जिसकी रचना सामग्री बहुत कुछ अलंकार जैसी है। बिम्ब काव्यानुभूति को उसकी पूरी संश्लिष्टता में पकड़ना चाहता है। कबीर की कविता ऐसे भावचित्रों का विपुल कोश है।

उनका बिम्ब प्रतीक भी होता है क्योंकि भावचित्र होने के अलावा किसी अन्य सत्य को इंगित/व्यंजित करता है। उदाहरण के लिए, झरता पत्ता अपने मूल उद्गम से दूर जा पड़ने की पीड़ा का और पुकारती' कलियाँ अपनी नश्वरता के अहसास की व्यथा का प्रतीकात्मक दृश्य प्रस्तुत करती हैं।

10.10 कबीर का काव्यसंगीत और रसानुभूति

कबीर की कविता से पहली शिकायत भावोन्मेष और रसानुभूति की अक्षमता को लेकर की गयी थी। इसके बारे में थोड़ी बहुत बातचीत पहले यथाप्रसंग होती रही है। वह बात पाठक या श्रोता की अपनी क्षमता को लेकर की गई थी। काव्यशास्त्र में रस को सहृदय-हृदय-सापेक्ष बताया गया है। सहृदय का अर्थ केवल हृदय-सम्पन्न व्यक्ति या सम्वेदनापूर्ण हृदय नहीं। वह तो कमोबेश सभी का होता है। काव्यशास्त्र का सहृदय कवि का समान-हृदय होता है – कविता की भाषा पढ़ने में समर्थ, पूर्वाग्रहमुक्त भाव से उसके भावजगत में प्रवेश करने को उत्सुक और कविता में निहित सत्य के प्रति अपने अविश्वास को स्थगित करने के लिए तत्पर।

अब कबीर की अपनी कविता की भावोन्मेष क्षमता को देखें। रस के शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ को छोड़ें। किसी पंक्ति में आलम्बन, उद्दीपन और स्थायी, संचारी गिना देने से ही रसानुभूति को सिद्ध मान लिया जाता है लेकिन वह अनभूति की नहीं, केवल नामगणना की बात होती है।

रस प्रायः प्रबंधकाव्य का लक्षण है। प्रबंधकाव्य में कथा का अनुबंध होता है। आश्रय/विषय आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव के साथ तादात्म्य से भावोन्मेष और रसानुभूति सम्भाव्य होती है। मुक्तक कविता प्रायः ऐसे तादात्म्य के अनुकूल नहीं होती। जहाँ होती है, जैसे कृष्णकाव्य, वहाँ आलम्बन, उद्दीपन विभाव भी मौजूद होते हैं और एक बहुज्ञात कथा का कोई न कोई प्रसंग भी निहित रहता है। कबीर की कविता में कथाप्रसंग और घटनाक्रम अनुपस्थित है, आश्रय/विषय और उद्दीपन की जगह पर शून्य अर्थात निर्गुण है। रसानुभूति का कोई भी मूर्त या स्थूल आधार वहाँ मौजूद नहीं है। लेकिन कविता अनिवार्यतः सगुण होती है, उसके नामरूप जगत में नाम ही रूप का पर्याय होता है। वस्तु वहाँ अपने नाम से अभिन्न होती है। उनकी कविता निर्गुण को अभिव्यक्ति द्वारा साकार बनाने का उपक्रम है। इसका एकमात्र रास्ता निर्गुण/शून्य को अपने श्रोता की अनुभूति का विषय बना देना है। उसे परम तन्मयता की उस स्थिति तक पहुँचा देना है जिसमें वह अपनी सतर्कता और चौकन्नापन खोकर डूब जाए।

मीरा और कबीर दोनों के ही विषय में यह कहा जा सकता है कि उनके काव्य की तन्मय करने की क्षमता जितनी उनके शब्दों में है उतनी ही उनके संगीत में भी। बल्कि संगीत में शायद अधिक ही। निर्गुण साधना में अनहद-हद विहीन, अनन्त-स्वयं नादरूप ब्रह्म है। वह कबीर के भावजगत का अंतर्गत संगीत है जिसे वे शब्द में साकार करते हैं। अगर आपने निर्गुण गायकी के लोक-कलाकारों या सूफ़ी गायकों से कबीर के भजन सुने हैं या कुमार गंधर्व के कबीर गायन का आनंद ले चुके हैं तो आप जानेंगे कि इस संगीत की संगत में बीता हुआ एक घंटा भी आपको उस तन्मयता की अनुभूति तक ले जाता है जिसका वर्णन कबीर ने अपनी कविता में किया है –

झल उठी झोली जली, खपरा फूटिमफूटि ।
जोगी था सो रमि रहा, आसन रही विभूति ।।

अंतर्मन में लपट उठी तो बाहरी उपकरण नष्ट हो गए। जोगी की झोली–तर्क और ज्ञान की गठरी जल गयी। खपरा-भिक्षा का पात्र 'फूटिमफूटि' हो रहा। फूटने की इस क्रिया की व्यंजना पर ध्यान दीजिए। इस प्रयोग से अर्थ में एक आवेग और त्वरा संक्रमित होती है। आप थोड़ा आभास पा सकते हैं कि कबीर को वाणी का डिक्टेटर क्यों कहा गया है। उन्हें उपयुक्त शब्द को टटोलना नहीं पड़ता, वह खुद उनकी वाणी की टकसाल में गढ़ा जा

कर मुखरित हो उठता है। 'जोगी था सो रमि रहा' का संकेत क्या है? कलेवर का जो अंश जोगी था—आत्म तत्व—वह रम कर रह गया, तल्लीनता में जा पहुँचा, आसन पर बैठा हुआ शरीर केवल उसकी बच रही विभूति—राख है या विभूति का दूसरा अर्थ देखिए—अलौकिक शक्ति, महत्ता, ऐश्वर्य, संगीत की एक श्रुति। योगी के रमता भाव के स्पर्श से नश्वर शरीर भी मूल्यवान हो उठा।

इस तन्मयता या तादात्म्य का विषय कोई काव्यगत आश्रय/विषय आलम्बन नहीं, स्वयं कबीर और उनकी अनुभूति है जो अपने भीतरी संगीत के सहारे शब्दों से उफन कर बाहर आ जाती है।

पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में, 'अनहद-अनन्त कालातीत शून्य-की यह उड़ान गहरी रागात्मक सम्वेदना की डोर से बँधी है। चूँकि जाति—पाँति, गरीब, अमीर, धार्मिक भेदभाव, अंधविश्वास, कर्मकांड, राजसत्ता धर्मसत्ता के छलकपट, और उत्पीड़नकाल के गोचर यथार्थ से मुक्ति का कोई उपाय नहीं सूझता, अतः काल्पनिक उड़ान और विवशता के तनाव पर ही सम्पूर्ण रागसंवेद झंकृत होता है।

कुमार गंधर्व कबीर के अनूठे गायक हैं। वसंत पोतदार ने कुमार गंधर्व पर लिखित अपनी पुस्तक में निर्गुण-गायन पर एक टिप्पणी की है जिसके सहारे कबीर की रसात्मक संगीत-सम्वेदना पर भी एक प्रकाश पड़ता है। उन्होंने उल्लेख किया है कि नाथपंथ के अनुयायी शीलनाथ जी द्वारा संकलित निर्गुण भजनों का एक संग्रह कुमार गंधर्व को देवास में मिला। 'उन भजनों का अभ्यास करने के बाद कुमार जी को नाथ-संप्रदाय की मनोवृत्ति समझ में आईः नाथपंथियों की निर्गुण शैली बिल्कुल अलग है। घने जंगलों में धूनी जलाकर वे रम जाते हैं ... उनका जीवन, उनकी दुनिया ही निराली है। वह उनकी गायकी से दृश्यमान होती है – इसका कुमार जी को आकलन हुआ। जीवनभर के उनके असीम आत्मविश्वास से उनके स्वर उत्पन्न होते हैं – यह कुमार जी ने ताड़ लिया और उन स्वरों पर उन्होंने प्रभुत्व कायम किया। सिर्फ़ निर्गुण स्वर ही नहीं, निर्गुणी जीवन के दिगम्बरत्व, औदासीन्य और फक्कड़पन से तादात्म्य पाने में वे सफल हो गए।'

10.11 सारांश

कबीर की कविता में सिद्ध और नाथ धर्म संरचनाओं की पारिभाषिक शब्दावली बड़ी मात्रा में मौजूद है इन शब्दों के निश्चित साधनापरक अर्थ हैं। कबीर की कविता के कुछ अंशों में इनके शास्त्रीय संकेत दिखाई देते हैं और हर बार इनका प्रयोग रूपक की तरह दृष्टिगत होता है।

कबीर की भाषा की अतिरिक्त सामर्थ्य है कि वह अपने युग के बाहर, सदियों बाद के युग में आज भी सार्थक हो सकती है। कालजयी साहित्य का यही अर्थ होता है। साधना कवि या साधक की व्यक्तिगत उपलब्धि होती है। सामाजिक यथार्थ पूरे समुदाय का जीवन योग होता है। कबीर की भाषा जहाँ तक इस अर्थन्विति का समर्थन करती है वहाँ तक मान्य हो सकती है और पाठक अपनी इच्छानुसार अर्थ चुनाव के लिए स्वतंत्र है।

अन्त में प्रस्तुत है, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक लंबा उद्धरण जिसे कबीर के भाषा-प्रसंग का सार और समापन माना जा सकता है –

'भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है -बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नज़र आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फ़रमाइश

को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।'

10.12 अभ्यास प्रश्न

1. 'कबीर वाणी के डिक्टेटर थे।' कबीर की कविता के संदर्भ में इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।
2. 'संधा भाषा' का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। कबीर की कविता में यह किस अर्थ और रूप में प्रस्तुत हुई है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 11 कबीर काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्‌देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 भक्ति या भगति

11.3 षड्‌दर्शन, योग, हठयोग और सिद्ध-नाथ

11.4 अवधू या अवधूत

11.5 पंचमकार

- 11.5.1 मुद्रा
- 11.5.2 मदिरा
- 11.5.3 मांस
- 11.5.4 मैथुन

11.6 महाकुंडलिनी और कुंडली

11.7 चक्र और षट्‌चक्र

- 11.7.1 मूलाधार चक्र
- 11.7.2 स्वाधिष्ठान चक्र
- 11.7.3 मणिपुर चक्र
- 11.7.4 अनाहत चक्र
- 11.7.5 विशुद्धाख्य चक्र
- 11.7.6 आज्ञा चक्र
- 11.7.7 शून्य चक्र
- 11.7.8 सूरति कमल

11.8 नाड़ियाँ : इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना

11.9 अनहद नाद, बीज और बिंदु

11.10 खेचरी मुद्रा

11.11 उन्मुनी/मनोन्मनी अवस्था

11.12 शून्य और सहज/शून्यावस्था और सहजावस्था

11.13 खसम

11.14 घरनी

11.15 निरंजन

11.16 पिंड और ब्रह्मांड

11.17 उलटी बानी या उलटबाँसी

11.18 माया

11.19 निर्गुण राम

11.20 सारांश

11.21 अभ्यास प्रश्न

11.22 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- कबीर काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का परिचय पा सकेंगे;
- इन शब्दों के स्रोत और उनका अवधारणागत विकास जान सकेंगे;
- कबीर दर्शन एवं परम्परागत चिंतनधारा के अंतःसम्बंधों को जान सकेंगे; और
- कबीर के पदों की व्याख्या एवं अर्थ कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

कबीर काव्य का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि कबीरदास की साधना-पद्धति विभिन्न परम्पराओं से मुखामुखम की प्रक्रियागत उपलब्धि है। कबीर भले ही स्वयं निरक्षर रहे हों, पर सजग जरूर थे। उनकी व्यापक ज्ञान–राशि शास्त्रों की लिखित परम्परा की मुखापेक्षी नहीं रहीं, तभी वे अपनी वाणियों में विभिन्न दार्शनिक मतवादों से साक्षात्कार कर सके हैं। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में विविध दार्शनिक मतवादों, साधना पद्धतियों के पारिभाषिक तत्व बिखरे मिलते हैं। ये पारिभाषिक शब्द उनकी कविताई की वे गाँठें हैं जिनका अर्थ खोले बगैर कबीर काव्य को समझना दुष्कर है। कई स्थलों पर तो इन शब्दों का प्रयोग इतना सहज है कि बिना अतिरिक्त श्रम के ही उनके अर्थ-संदर्भ स्वतः प्रकट हो जाते हैं, परंतु कई प्रयोग ऐसे भी हैं जहाँ अतिरिक्त सजगता होती है।

सामान्यतः कबीर काव्य की पारिभाषिक शब्दावलियों की तीन कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। पहली कोटि के अंतर्गत वैसे शब्दों को रखा जा सकता है जिन्हें कबीर ने परम्परा से ज्यों का त्यों स्वीकारा है। इनका अर्थ और संदर्भ परम्परित ज्ञान-मीमांसा के अनुशीलन से ही सम्भव है। परम्परा निस्संदेह किसी तत्व के समझने का उत्तम साधन है पर परम्परा का ऐतिहासिक विकास और भी अधिक महत्वपूर्ण साधन है। कबीरदास के यहाँ पारम्परिक ज्ञान-सरणि का ऐतिहासिक विकास वहाँ दृष्टिगत होता है जब वे परम्परा से प्राप्त प्रतीकों, तत्वों में नया अर्थ भरते प्रस्तुत होते हैं। यह पारिभाषिक शब्दों की दूसरी कोटि है। इन्हें समझने के लिए इनकी पूरी विकास-प्रक्रिया का ज्ञान अपेक्षित हैं। तीसरी कोटि के पारिभाषिक शब्द कबीर की प्रतिभा की नितांत मौलिक उपज है; अर्थात अपने मंतव्य की अभिव्यक्ति के लिए वे स्वयं ही इनका सृजन करते हैं। विद्यार्थियों को कबीर काव्य की स्पष्ट समझ के लिए इन सभी कोटियों के तत्वों का ज्ञान आवश्यक है। सुविधा के लिए इस इकाई के अंतर्गत ऐसे ही कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की जाएगी।

11.2 भक्ति या भगति

यहाँ हम भक्ति की अवधारणा और कबीर की भक्ति की विशिष्टता पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। भारतवर्ष में भक्ति के सूत्र कबीर से बहुत पहले तक जाते हैं, पर कबीर ने भक्ति से योग का समन्वय कर एक विशिष्ट साधना-पद्धति का संधान किया। इसमें एक ओर भक्ति की तरल सहृदयता थी तो दूसरी ओर नाथपंथी अंतस्साधना की सहजानुभूति। इसी कारण कबीर योगसाधना की शुष्कता को मर्मस्पर्शी हार्दिक अनुभूतियों से जोड़ने में सफल हुए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति को धर्म का हृदय कहा है। भक्तगण धर्म के रसात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। आराधना में जहाँ भक्त धार्मिक हृदय पक्ष का आलम्बन

ग्रहण करता है, भक्ति होती है। भक्ति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है – अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अपूर्व तन्मयता, अहैतुक प्रेम, निश्शर्त समर्पण। कबीर में इन बिंदुओं की चरम परिणति हुई है। वे भी ब्रह्म की उपासना में हृदय पक्ष का आलम्बन ग्रहण करते हैं। किंतु वे जिस 'भगति' का प्रतिपादन करते हैं वह बस इतना ही नहीं है। वहाँ एक तरफ ज्ञान की सत्ता है, जिसमें निर्गुण निराकार ब्रहम से ज्ञाता–ज्ञेय सम्बंध स्थापित होता है, योगमार्ग की अंतस्साधनात्मक अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं तो दूसरी ओर स्त्री रूप धारण कर उपास्य प्रिय से एकाकार होने की उत्कट लालसा, उससे नाना सामाजिक सम्बंध स्थापित करने का आग्रह भी है। कबीर की 'भगति' एक चौरस्ता है जहाँ देश में प्रचलित विविध धार्मिक साधनाएँ एक दूसरे से मिलती हैं, संवाद करती हैं और फिर उनके द्वंद्व-संश्लेषण से एक नई धारा का सूत्रपात होता है। इस प्रकार कबीर की भक्ति सगुण मत से भिन्न, विशुद्ध ज्ञान-मार्ग से अलहदा, नाथपंथी योगमार्ग से पृथक और इस्लाम के एकेश्वरवाद से जुदा हो जाती है।

11.3 षड्दर्शन, योग, हठयोग और सिद्ध-नाथ

कबीरदास के यहाँ जो योग-हठयोग की चर्चा या तत्सम्बंधी रूपकों के दर्शन होते हैं, उसकी विरासत उन्हें सिद्धों-नाथों से मिली है। सिद्ध वज्रयानी थे। इनकी विकास परम्परा को रेखांकित करते हुए पं. राहुल सांकृत्यायन कहते हैं : 'बौद्ध धर्म अपने हीनयान और महायान के विकास को चरम सीमा तक पहुँचाकर अब एक नई दिशा देने की तैयारी कर रहा था जब उसे मंत्रयान, वज्रयान या सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी।' सिद्धों के यहाँ नैरात्म्य भावना, काया माया, सहज, शून्य तथा समाधि की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन मिलते हैं। किंतु ऐसा माना जाता है कि सिद्ध-साधना परम्परा की पतनोपमुखता से क्षुब्ध होकर गोरखनाथ ने इसकी प्रतिक्रिया में नाथ-पंथ की स्थापना की और योगपरक प्रतीकों के आध्यात्मिक अर्थ को पुनर्प्रतिष्ठित किया। कबीर अपने योगरूपक यहीं से ग्रहण करते हैं।

प्राचीन भारत में षड्दर्शन का विकास हुआ, जिसका एक अवयव 'योग' भी है। ये षड्दर्शन इस प्रकार हैं : सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पतंजलि के योग को लेकर 'हठयोग' के प्रवर्तन का श्रेय गोरखनाथ को है। उन्होंने ब्रह्मचर्य वाक् संयम, शारीरिक-मानसिक शुचिता, मद्य-मांस के त्याग पर आग्रह किया। हठयोगियों के 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' ग्रंथ के अनुसार 'ह' का अर्थ है सूर्य तथा ठ का अर्थ है 'चंद्र'। इन दोनों के योग को ही हठयोग कहते हैं। योग-शास्त्र की परम्परा में चंद्र का अर्थ है तालु के अधोभाग का चंद्र जबकि सूर्य का अर्थ है नाभि के ऊर्ध्व भाग का सूर्य। इन्हें कभी क्रमशः इड़ा और पिंगला का प्रतीक भी माना जाता है। बहरहाल योगियों की मान्यता के अनुसार, आकाश में जो तप रहा है वह वास्तव में सूर्य नहीं है, असल में सूर्य नाभि के ऊपर रहता है और चंद्र तालु के नीचे। चंद्रमा से जो कुछ अमृत झरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है। इसलिए उसका मुँह बंद कर देना योगी का परमकर्त्तव्य है। इस प्रकार योग मत में मानव शरीर की संरचना विज्ञान से भिन्न बताई गई है और कबीर के यहाँ भी इस तरह के प्रतीकों का प्रयोग सामान्य है।

हठयोग असल में लक्ष्य नहीं है। इसे राजयोग का सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगी की नहीं सुनता। आरम्भ में हठयोग का उद्देश्य शरीर-शुद्धि और मन का सम्मार्जन ही समझा गया था। देह शुद्धि के लिए हठयोगी क्रियाओं का विशाल ठाठ है, यथाः धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति–जिन्हें षट्कर्म कहते हैं। इसके आगे यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (संतोष, पवित्रता, स्वाध्याय, तपस्या आदि), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इंद्रियनिग्रह)

धारणा (ईश में आस्था), ध्यान और समाधि है। आसन में सिद्धासन, मुद्रा में खेचरी, प्रणायाम में केवल सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। प्राणायाम तीन प्रकार का होता है : रेचक (साँस छोड़ना), पूरक (साँस भरना), और कुंभक (साँस रोकना)। असल प्राणायाम कुंभक ही है और यह दो प्रकार का होता हैः जब रेचक और पूरक की सहायता की जाती है तब इसे सहित कहते हैं पर जब उन दोनों की सहायता के बिना ही यह प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो इसे केवल कहते हैं। इसी की सहायता से कुंडलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होती है।

नाथपंथ में यह हठयोग ही लक्ष्य बन गया। नाथों के बारे में कबीर की मान्यता है कि नाथ वह है जो समस्त त्रिभुवन का एकमात्र यती-परब्रह्म है। किंतु दूसरी ओर इन्हें लक्ष्य कर वे यह भी कहते हैं कि ओंकार की बात तो सभी किया करते हैं पर इसे समझ सकने वाले विरले ही हैं। वस्तुतः कबीर के लिए हठयोग भी एक बाह्याचार ही है। इसलिए उन्होंने इसे साध्य नहीं, साधन बनाया तथा तत्वों का प्रतीकात्मक प्रयोग कर अपनी रचनाओं में रूपकों में ढाला।

11.4 अवधू या अवधूत

कबीरदास के यहाँ आए अन्य सम्बोधनों की तरह अवधू या अवधूत का भी एक खास प्रयोजन है। अवधूत को पुकारते हुए वे अवधूत की भाषा में ही उसके क्रिया–कलाप की आलोचना करते हैं। कबीर हालाँकि अवधूत मत को मानते नहीं, पर अवधू के प्रति उनकी अवज्ञा भी नहीं है, उसे वे काफी सम्मान से पुकारते हैं। कभी कुछ उपदेश देते हैं, कभी कुछ बूझने को ललकारते हैं, कभी उसकी साधना पद्धति की व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधू समझ सके तो कबीरदास का गुरु तक बन सकता है।

अवधूत के बारे में कहा गया है कि 'वधू जा के न होइ सो अवधू कहावै' अर्थात अवधू वधू-हीन जीव हैं किंतु स्वयं कबीर ऐसा मानते प्रतीत नहीं होते। उनके अनुसार अवधू जोगी जग से न्यारा है। वह मुद्रा, निरति, सूरति और सींगी धारण करता है, नाद से धारा को खंडित नहीं करता, गगन-मंडल में बसता है और दुनिया की ओर देखता भी नहीं। चैतन्य की चौकी पर विराजता है, आकाश पर चढ़ा हुआ भी आसन नहीं छोड़ता, महामधुर रस का पान करता रहता है। प्रकट में कंथा में लिपटा रहता है पर वस्तुतः वह हृदय के दर्पण में कुछ देखता रहता है। निश्चल बैठा वह नासिका में 21 हजार 6 सौ धागों को पिरोया करता है। वह ब्रह्म-अग्नि में काया को जलाता है, त्रिकुटी से संगम में जागता है, सहज और शून्य की लौ लगाए रहता है।

भारतीय परम्परा में 'अवधू' शब्द कई सम्प्रदायों के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ हैं। साधारणतः जागतिक द्वंद्वों से अतीत, मानापमान विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहयान और वज्रयान के आचार्यगण सहजावस्था की बात करते हैं। सहजावस्था की प्राप्ति के उपरांत ही साधक अवधूत होता है, सहजावस्था नाथपंथ में भी प्रचलित थी और आगे इसके उल्लेख कबीर के यहाँ भी मिलते हैं। एक अन्य मत के अनुसार अवधूत वह है जो सब पंचतत्व सेवन करता हुआ विराचारी होकर रहता है, संन्यास की सभी विधियों का यथोक्त पालन करता है, दंडियों की भाँति अमावस्या के दिन मुंडन न कराके लंबे केश और जटा आदि धारण करता है, अस्थिमाला और रुद्राक्ष पहनता है, दिगंबर होकर या कौपीन धारण करके रहता है और शरीर में रक्त चंदन और भस्म का लेप करता है। परंतु कबीर का अवधूत इस रूप में सामने नहीं आता, वह बाह्याचारी नहीं हैं। वह 'जग थैं न्यारा' अवधूत पंचमकार सेवी कनफटा योगी भी नहीं है। कबीर का मानना है कि असली

योगी वह नहीं है जो इन बाह्य वेशों को धारण करता है, असली तो वह है, जो इन बाह्य वेशों की परवाह नहीं करता, जो मन ही में मुद्रा और खप्पर धारण करता है, मन ही में आसन लगाता है, मन ही में सींगी बजाता है, जो भीतर से योगरस से परिपक्व हो गया है।

भर्तृहरि कहते हैं कि अवधूत मुनि की बाह्य क्रियाएँ प्रशमित हो गई हैं। वह न दुःख को दुःख समझता है, न सुख को सुख। वह कहीं भूमि पर सो सकता है, कहीं पलंग पर, कही कंथा धारण कर लेता है, कहीं दिव्यवसन, कहीं शाकाहार पर ही दिन गुजार देता है और कहीं मधुर भोजन पाने पर उसे भी ग्रहण कर लेता है। किंतु कबीरदास इस प्रकार योग में भोग को पसंद नहीं करते। न तो वे बाहरी भेषभाव पसंद करते हैं और न ही सर्वमय होकर सर्वविवर्जित बने रहने के आचार को । योगी तो वह है जो न भीख माँगे न भूखा सोये, न झोली–पत्र और बटुआ रखे, न अनहद नाद के बजाने से विरत हो, पाँच जने की जमात (गृहस्थी) का पालन भी करे और संसार से मुक्ति पाने की साधना भी जाने। जो ऐसा नहीं वह अवधूत योगी कबीर का आदर्श नहीं हो सकता । इस तरह यद्यपि योगियों के सम्प्रदाय के सिद्धों को ही कबीर अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूत के अंतर को बराबर याद रखते हैं। साधारण योगी के प्रति उनके मन में वैसा आदर भाव नहीं है जैसा अवधूत के बारे में है।

11.5 पंचमकार

हठयोग में पंचमकारों को बहुत महत्व मिला है और ऐसा माना गया है कि इनके सेवन के बगैर कोई सच्चा योगी नहीं हो सकता। ये पंचमकार हैं:

मुद्रा
मदिरा
मांस
मैथुन
मत्स्य

कबीरदास पंचमकार सेवी अवधूत की चर्चा नहीं करते। उनके लिए पंचमकार भी बाह्याचार ही हैं, किंतु इनका उपयोग वे प्रतीकात्मक रूप में अवश्य करते हैं और इसीलिए पंचमकारों का उल्लेख कबीर के यहाँ मौजूद है, हालाँकि पूरी सजगता के साथ वे इनके आध्यात्मिक अर्थ का संकेत देते चलते हैं।

11.5.1 मुद्रा

गोरखपंथी योगियों को कनफटा कहा जाता था, क्योंकि वे कान में छिद्र करके एक कुंडल धारण करते थे, जिसे मुद्रा या दर्शन कहा जाता था। सिद्ध-सिद्धांत– के अनुसार मुद धातु मोदार्थक और रा धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के वाचक हैं। इसे धारण करने की प्रक्रिया में ही मनुष्य योगी हो जाता है और जन्म मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है किंतु कबीर के यहाँ बाह्याडम्बरों के लिए कोई जगह नहीं है। उनका योगी बाह्य वेशों की परवाह नहीं करता। इसलिए कबीर का आदर्श योगी मन में ही मुद्रा धारण करता है: 'सो जोगी जाक मन मैं मुद्रा।'

11.5.2 मदिरा

कबीरदास के यहाँ मदिरा का महत्व अधिक है। इसे वे वारुणी, अमरवारुणी, सोमरस, चंद्ररस आदि भी कहते हैं। कबीर स्वयं इसका सेवन करते हैं, उनकी मदिरा ज्ञान रूपी गुड़ और ध्यान रूपी महुआ को भव अर्थात संसार रूपी भट्ठी में चुआने से तैयार हुई है।

इसका पान कर कबीर उन्मनी अवस्था प्राप्त करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी का सहजावस्था में प्रवेश होता है। यह मदिरा वही अमृत है जो चंद्रमा के स्थान से सदा झरता रहता है। ब्रह्मरंध्र के सहस्त्रार पद्म के मूल में जो 'यानि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केंद्र है वहीं चंद्रमा का स्थान है। यहाँ से झरने वाले सोमरस का पान करने वाला योगी अमर हो जाता है। इस प्रकार मदिरा भी कबीर के यहाँ एक आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में ही उपस्थित होती है।

11.5.3 मांस

कबीर के यहाँ मांस या गोमांस के भक्षण का संदर्भ भी इसी चंद्ररस से जुड़ता है। गो का अर्थ है, जिह्वा और उसे उलट कर तालु देश में ले जाने को ही गोमांस भक्षण कहते हैं। खेचरी 'मुद्रा' में योगी की उर्ध्वगा जिह्वा उलटकर उसी अमर वारुणी का पान करती है। यह गोमांस भक्षण महापातक को नाशने वाला है। गोमांस भक्षण और मदिरा पान करने वाला योगी ही कुलीन है। इसीलिए कबीर ने गोमांस का भक्षण न करने वाले योगियों की खबर ली थी और सोमरस का पान करने के लिए अवधू को ललकारा था।

11.5.4 मैथुन

कबीर के यहाँ 'मैथुन' आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक है जिसमें वे स्त्री रूप धरकर अपने उपास्य ब्रह्म से प्रेम की लौ लगाते हैं। बढ़ते–बढ़ते यह उन्माद यहाँ तक बढ़ जाता है कि 'एकमेक' हो 'सेज सोने' की कामातुरता प्रकट हो जाती है। वे निर्गुण राम को अपना पति, प्रियतम तथा स्वयं को उसकी बहुरिया, प्रियतमा के रूप में कल्पित करते हैं। प्रियतम ब्रह्म से विलगाव की दशा में वे नितांत लौकिक रूपकों के माध्यम से अपनी जीवात्मा की विरह व्यथा का वर्णन करते हैं और' काम मिलावे राम कूं' की अलख जगाते हैं । यह जीवात्मा का परमात्मा के प्रति अनुराग के प्राबल्य का सूचक है।

11.6 महाकुंडलिनी और कुंडली

हठयोग के सिद्धान्तानुसार महाकुडंलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। व्याप्ति में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुंडली या कुंडलिनी कहते हैं। कबीरदास के यहाँ भी इस 'कुडंलिनी' का बड़ा महत्व है। एक सच्चे योगी को इसकी शक्ति जाग्रत करनी पड़ती हैं। इसे ही 'कुंडलिनी जागरण' कहा जाता है, और तब वह अपनी सामान्य अधोमुखी अवस्था से ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। कुंडलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृ–कुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्था में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न। इन तीनों ही अवस्थाओं में कुंडलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा महज शरीर धारण का कार्य होता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि हठयोग में मानव शरीर की कल्पना नितांत मौलिक प्रकार से हुई है। इसी परिकल्पना के अनुसार कुंडलिनी का स्थान सामान्य दशा में शरीर में खास जगह इंगित किया गया है। पीठ में स्थित मेरुदंड के निचले सिरे पर जहाँ वह सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग बताया गया है जो एक त्रिकोण में अवस्थित है। इसे 'अग्निचक्र' कहा जाता है। इसी अग्निचक्र के त्रिकोण में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुंडलिनी अवस्थित है। साधारण मनुष्यों में यह अधोमुख रहती है, इसलिए वह काम-क्रोध का क्रीत-दास बना रहता है। साधक नाना प्रकार की साधनाओं के द्वारा कुंडलिनी शक्ति को ऊपर की ओर या ऊर्ध्वमुख उद्‌बुद्ध करता है। यही कुंडलिनी जागरण है। इसके लिए साधक देह-शुद्धि की अनेक क्रियाओं का सहारा लेता है, जिनमें 'षट्कर्म' आदि शामिल हैं। कुंडलिनी उद्‌बुद्ध होने के पश्चात् क्रमशः ऊपर की ओर उठती जाती है और शरीर में स्थित कई चक्रों को भेदती

है। सामान्यतः छः चक्रों की चर्चा मिलती है जिन्हें 'षट्चक्र' कहते हैं और भेदन की इस क्रिया को 'षट्चक्र भेदन'।

11.7 चक्र और षट्चक्र

हठयोग में मान्यता है कि शरीर के भीतर कई चक्र होते हैं। कुंडलिनी शक्ति उद्बुद्ध होती है तो वह इन चक्रों को भेदती है। मुख्य रूप से छः चक्रों की कल्पना की गई है, जिन्हें 'षट्चक्र' नामक अभिधान दिया जाता है।

11.7.1 मूलाधार चक्र

अग्निचक्र कुंडलिनी के ऊपर नाभि और लिंग के चार दलों का एक कमल बताया गया है, जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। कुंडलिनी जागरण के पश्चात् उद्भेद होने वाला चक्र यही है, इसलिए इसे प्रथम सोपान माना जा सकता है।

11.7.2 स्वाधिष्ठान चक्र

मूलाधार के ऊपर नाभि के पास दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान अवस्थित है, जिसका आकार छः दलों वाले कमल के समान है। मूलाधार के बाद कुंडलिनी स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है। कबीर कहते हैं कि इसमें काम का अभाव होता है तथा यह 'मन के मोहन वीठुला' का वास-स्थान है।

11.7.3 मणिपुर चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर की ओर नाभि और ह्दय के बीच मणिपुर चक्र है। दस दलों वाले कमल की आकृति के समान इस चक्र का भेदन कुंडलिनी तीसरे चरण में करती है।

11.7.4 अनाहत चक्र

मणिपुर चक्र से ऊपर अर्थात ह्दय के पास चौथा चक्र है, जो बारह दलों के पद्म के समान है। इसे ही योग में अनाहत चक्र कहा गया है।

11.7.5 विशुद्धाख्य चक्र

सोलह दलों वाले कमल की आकृति के जैसा यह चक्र अनाहत चक्र के ऊपर कंठ के पास अवस्थित है। कबीर के अनुसार विशुद्धाख्य चक्र में बनवारी मिलते हैं।

11.7.6 आज्ञा चक्र

विशुद्धाख्य से भी ऊपर जाने पर कुंडलिनी आज्ञा चक्र में प्रवेश करती है जिसका आकार दो ही दलों वाले कमल के समान है। हठयोग में इस चक्र का महत्व बहुत अधिक है, क्योंकि षटचक्रों में यह सर्वोपरि है। कठोर साधना के बाद ही साधक इस चक्र को भेद पाता है। यही वह त्रिवेणी है जिसमें स्नान के पश्चात सनकादिक का साथ हो जाता है।

उपरोक्त छः चक्रों को ही सामूहिक रूप से 'षट्चक्र' कहते हैं और कुंडलिनी द्वारा इनके उद्भेद को 'षट्चक्र भेदन' । किंतु साधना यहीं समाप्त नहीं होती, इसके आगे भी शून्य चक्र की कल्पना हठयोग में की गई है।

11.7.7 शून्य चक्र

षट्चक्र भेदन के पश्चात मस्तक में शून्य चक्र मिलता है और यहाँ जीवात्मा को पहुँचाकर स्थित कर देना योगी का परमलक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गई है, उसमें सहस्र अर्थात हजार दल हैं। इसी कारण इस चक्र को सहस्रार चक्र भी कहते

हैं। यह शून्य चक्र ही कबीरदास के यहाँ गगन मंडल के रूप में आता है, जहाँ अनंततार के दर्शन होते हैं। इसे ही कैलास भी कहा गया है। कबीर जब शरीर में ही कैलास की उपस्थिति बताते हैं तो उनका आशय सहस्रार चक्र से ही होता है।

11.7.8 सूरति कमल

कबीरदास और संत मत की नवीनता इसमें है कि वे शून्य चक्र से भी ऊपर सूरति कमल की कल्पना करते हैं। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगी का चित्र व्युत्थान-काल में अर्थात् समाधि टूटने के बाद फिर वासना का शिकार हो जाता है, पर सूरति कमल में विलास करने वाले संत का चित ऐसे खतरे से निश्चिंत रहता है। वस्तुतः यह सूरति कमल आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक है, जिसके लिए हठयोग में कोई जगह नहीं थी। योग और प्रेम का समन्वय कबीर और उनके संतमत की मौलिक उपलब्धि है।

11.8 नाड़ियाँ : इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना

हठयोग में विभिन्न चक्रों के अतिरिक्त मानव-शरीर में कुछ नाड़ियों की परिकल्पना भी प्रस्तुत की गई हैं, जो मेरुदंड में प्राणवायु का वहन करती हैं। जो नाड़ी बायीं ओर है उसे 'इड़ा' और जो दाहिनी ओर है उसे 'पिंगला' कहते हैं। कबीरदास ने अनुप्राय की आवश्यकता के अनुरूप इन्हें 'इंगला-पिंगला' कहा है। ये दोनों नाड़ियाँ बारी-बारी से चलती रहती हैं और इन दोनों के बीच जो नाड़ी है उसे सुषुम्ना कहा गया है। इसी से होकर कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। सामान्य दशा में सुषुम्ना का पथ प्रायः बंद होता है। कुंडलिनी जागरण के लिए क्रिया विशेष से साधक सुषुम्ना पथ को उन्मुक्त करता है। असल में सुषुम्ना के भीतर भी कई सूक्ष्य नाड़ियाँ हैं। इसके भीतर 'वज्रा' उसके भीतर 'चित्रिणी' और उसके भीतर ब्रह्मा नाड़ी है, जो कुंडलिनी शक्ति का असल मार्ग है। इस प्रकार तीन नाड़ियों का एकीभाव सुषुम्ना नाड़ी है। इड़ा और पिंगला के साथ में तीन नाड़ियाँ मिलकर पाँच होती हैं, इसलिए इन्हें 'पंचस्रोत' या 'पाँच धाराएँ' कहने की भी परम्परा है।

कबीर के पाठकों के लिए इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ ही काम की हैं। इन्हें ललना-रसना-अवधूती भी कहा गया है, जिसमें 'अवधूती' का अर्थ है। 'सुषुम्ना'। हठयोग में मान्यता है कि वैसे तो शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं, पर एकमात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, बाकी तो बेकार ही हैं। कबीर के यहाँ इड़ा–पिंगला और सुषुम्ना ही क्रमशः गंगा, जमुना और सरस्वती के रूप में आती हैं और आज्ञा चक्र में जहाँ इन तीनों का संगम हुआ है, वहीं त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी-कभी इसी त्रिवेणी में स्नान का विधान करते प्रस्तुत होते हैं।

11.9 अनहद नाद, बीज और बिंदु

तंत्र ग्रंथ 'शारदातिलक' में सृष्टि तत्व को समझाते हुए कहा गया है कि शिव के दो रूप हैंः निर्गुण और सगुण। निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है वही 'नाद' है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना 'बिंदु' है। इसी क्रम में सृष्टि तत्व के रूप में 'बीज' का भी उल्लेख आता है। नाद, बीज और बिंदु क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। इन्हीं से क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति होती है। तंत्र का निर्गुण शिव कबीरपंथ के 'सत्यपुरुष' के समान है, सगुण शिव निरंजन हैं और शक्ति 'आद्याशक्ति' है। नाद ही स्वयंवेध यानी कबीरदास की वाणियों के 'निर्मल वेद' के समान है और बिंदु उसकी क्रिया।

हठयोग मत में कुंडलिनी जब उद्‌बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। 'नाद' से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिंदु है। यह बिंदु तीन प्रकार का होता है : इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन्हें कभी सूर्य, चंद्र और अग्नि भी कहा गया है और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी। 'नाथपंथी मान्यताओं को अभिव्यक्त करने के क्रम में 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' में कहा गया है कि 'नाथ का अंश नाद है, नाद का अंश प्राण और उधर शक्ति का अंश बिंदु है और बिंदु का अंश शरीर। इससे स्पष्ट है कि नाद और प्राण, बिंदु और शरीर से अधिक महत्वपूर्ण हैं अर्थात पुत्र-क्रम की अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है।'

यह जो नाद और बिंदु है वह असल में अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त 'अनाहत नाद' या 'अनहद' का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है इसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे 'नाद' कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरंतर इड़ा और पिंगला के मार्ग में चल रहा है और सुषुम्ना का पथ प्रायः बंद है। यही कारण है कि बद्ध जीव के इंद्रिय और मन की वृत्ति बहिर्मुख है। जो कुछ भी अखंडनाद जगत के अंतस्तल में और निखिल ब्रह्मांड में निरंतर ध्वनित हो रहा है उसे वह सुन नहीं पाता। परंतु जब क्रिया–विशेष से सुषुम्ना–पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुंडलिनी शक्ति जाग उठती है, तो प्राण स्थित होकर शून्य पथ से निरंतर उस अनाहत ध्वनि या अनहद को सुनने लगता है। ऐसा कहा गया है कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी, झर्झर आदि का सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख घंटा की हल्की–सी आवाज सुनाई देती है और अंत में किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार–सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है और यह सब कुंडलिनी द्वारा विभिन्न चक्रों के भेदन के क्रम में होता है। जिस प्रकार मकरंद-पान में मत्त भौंरा गंध की ओर ताकता भी नहीं, उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है, वह दुनिया के किसी और विषय की परवाह भी नहीं करता।

परंतु ज्यों–ज्यों मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बंद हो जाता है, क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूप में स्थिर हो जाती है और बाह्य प्रकृति से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। यह नाद मूलतः एक होकर भी विभिन्न उपाधियों से युक्त होने के कारण सात स्वरों में विभक्त है। शास्त्र जिसे 'प्रणव' या 'ओंकार' कहते हैं वही उपाधि रहित शब्द-तत्व है। किसी-किसी साधक ने तथा वैयाकरणों ने इसे ही स्फोट कहा है। यह स्फोट अखंड सत्ता रूप 'ब्रह्म' तत्व का वाचक है। स्फोट को ही शब्द ब्रह्म और सत्ता को ही 'ब्रह्म' कहा गया है। इस तरह वाच्य सत्य को प्रकाशित करने वाला वाचक स्फोट या नाद भी ब्रह्म ही है अर्थात् शब्द भी ब्रह्म है। विद्यार्थियों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि कबीर के यहाँ सबद का भारी महत्व है। यह शब्द मूलाधार से उठता है और सहस्रार में जाकर लय हो जाता है।

11.10 खेचरी मुद्रा

कबीरदास के यहाँ 'खेचरी मुद्रा' का जिक्र आता है जो हठयोग से ही विरासत में प्राप्त हुआ है। यह साधना की एक विशिष्ट मुद्रा है, जिसमें साधक जीभ को उलटकर कपाल–कुटर में प्रविष्ट करता है और उसकी दृष्टि भवों के मध्य निबद्ध होती है। बड़ी साधना और प्रयास के बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है, पर एक बार यदि आधे क्षण के लिए भी यह प्राप्त हो गई अर्थात योगी अपनी जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपाल–कुटर में स्थिर कर सका तो समस्त विषयों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है– ऐसी मान्यता

है। इसी मुद्रा का विशेष रूप 'व्योम चक्र' भी कहलाता है। वस्तुतः खेचरी मुद्रा में ही योगी की उर्ध्वगा जिह्वा अमरवारुणी या सोमरस का पान करती है।

11.11 उन्मुनी/मनोन्मनी अवस्था

कबीरदास मनोन्मनी दशा को 'उन्मुनि रहनी' कहते हैं। यह समाधि की एक विशेष अवस्था है, जिसमें वायु भीतर संचरित होकर मन को स्थिरता देती है और इस स्थिरता की दशा में साधक शेष जगत से निश्चिंत होकर 'उन्मनत' अथवा 'मतवारा' हो जाता है। वस्तुतः राजयोग, समाधि उन्मुनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या एक ही समाधि के वाचक हैं। यह वह अवस्था है जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं और चंचल मन स्थिर और वशवर्ती हो जाता है। इंद्रियों का स्वामी मन है, मन का मारुत, मारुत का लय या लौ और लय का नाद। मन और प्राण के लौ लगने पर एक अभूतपूर्व आनंद मिलता है। हठयोग में कहा गया है कि आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में करके योगी को निश्चिंत हो जाना चाहिए। शून्य अर्थात समाधि-जबकि आत्मा छः चक्रों को भेदकर सहस्रार या शून्य चक्र में अवस्थित होती है, ऐसी अवस्था में उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य, आसमान में जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो। परंतु असल में वह भीतर से पूर्ण होता है और बाहर से भी – समुद्र में जैसे भरा घड़ा डुबाकर रखा गया है। कबीर इसे ही व्यक्त करने के लिए जल कुंभ का रूपक गढ़ते हैं। यही मनोन्मनी अवस्था है।

11.12 शून्य और सहज/शून्यावस्था और सहजावस्था

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी शून्य और सहज को भारतीय साहित्य के अत्यधिक मनोरंजक शब्दों में मानते हैं, क्योंकि इनका ऐतिहासिक विकास भारतीय दर्शन परम्परा में बहुत रोचक रहा है। बौद्ध महायान सम्प्रदाय के दार्शनिकों की दो शाखाएँ 'शून्यवाद' और 'विज्ञानवाद' हैं। 'शून्यवाद' के अनुसार संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की कोई सत्ता नहीं। बौद्ध विचारक नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या में कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों अर्थात शून्याशून्य भी नहीं कह सकते। यह भी नहीं कह सकते कि शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भाव की प्राप्ति के लिए शून्य का व्यवहार होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत बहुत कुछ अनिर्वचनीयता का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरी ओर हम यह देख चुके हैं कि नाथपंथी लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रार चक्र को शून्य चक्र कहते हैं। उनके मतानुसार जब जीवात्मा नाना–प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा इस चक्र में पहुँचती है तो वह समस्त द्वंद्वों से ऊपर उठकर केवल रूप में विराजती है।

यही शून्यावस्था है जिसमें आत्मा को और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती, न सुख की, न दुःख की; न राग की, न द्वेष की; न हर्ष की, न अमर्ष की । इन समस्त द्वंद्वों से रहित केवलावस्था ही शून्यावस्था है। योगी लोग इस केवल शून्यावस्था को 'शून्याशून्य अवस्था' भी कहते हैं और इस प्रकार शब्दों में नागार्जुन के बताए हुए परम लक्ष्य को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करते हुए भी अर्थ में भिन्न हो जाते हैं।

'सहजयानी' सिद्धों ने इस केवलावस्था को बार-बार शून्य पद कहा है। ये सिद्धगण प्रायः 'शून्य' और 'सहज' शब्द का व्यवहार एक साथ करते हैं। यह परम्परा अर्थात 'शून्य' और 'सहज' का एक साथ व्यवहार करना, नाथपंथी योगियों में ज्यों-की-त्यों चली आई। कबीरदास प्रायः 'सहज' और 'शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और अनेक स्थानों पर उन्होंने एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है।

'सहजावस्था' सहजयानी सिद्धों की चरम साधना है और वह इस 'शून्यावस्था' से भिन्न नहीं है। सिद्ध सरहपा अपने चित्त को सम्बोधित करते हैं : 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चंद्र की भी गति नहीं है, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते – जहाँ आदि भी नहीं, अंत भी नहीं, मध्य भी नहीं, जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं, अपना भी नहीं, पराया भी नहीं – जो महासुख है, जो सहजावस्था है।' नाथपंथी योगी भी सहजावस्था और शून्यावस्था को अभिन्न मानते प्रतीत होते हैं। सहजावस्था–शून्यावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है। यहाँ यह रेखांकित करना जरूरी है कि इसके बावजूद योगियों के सहजानंद से सहजयानियों के सहजानंद का तात्विक भेद है। योगी को जहाँ इस अवस्था में आत्मोपलब्धि होती है, वह आत्माराम हो जाता है अर्थात अपने ही आप में रमने लगता है, वहीं सहजयानी को इस अवस्था में इंद्रिय-बोध के लोप हो जाने का तो अनुभव होता ही है, अपने आप को जानने की स्थिति भी तुप्त हो जाती है।

वहाँ वह केवल एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे किसी शब्द से कहकर नहीं समझाया जा सकता, जो अनुभवैकगम्य है। सर्वज्ञ को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ता है। यही अवस्था 'सुखराज' अथवा 'महासुख' की है।

कबीरदास ने शून्य और सहज से जिस प्रकार की समाधि की बात कही है वह योगियों की सहजावस्था से भिन्न है। वे उस संत का अपना सारा जप-तप दलाली में भेंट कर देने को तैयार थे जो उन्हें सहज सुख के योग्य बना दे, राम रस की एक बूँद चखा दे। यह राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है। इस 'राम-रस' का रसास्वादन उन्होंने सहज-शून्य में किया था। इड़ा-पिंगला की भट्ठी बनाई, उसमें ब्रह्माग्नि जला दी, सूर्य और चंद्र से दसों दरवाजे बंद कर दिए और उल्टी गंगा बहाकर पानी की व्यवस्था की, तब जाकर पाँचों प्राणों को साथ लेकर 'राम-रस' चुआया गया और कबीरदास ने छककर पान किया। सद्गुरु न मिले होते तो यह विचित्र रस सम्भव न होता। ध्यान देने की बात है कि हठयोगी भी सद्गुरु की कृपा के बिना सहजावस्था को दुर्लभ मानते हैं।

कबीरदास के यहाँ सहजावस्था या सहज समाधि वह हं जिसमें पद-पद पर भगवान के दर्शन होते हैं। कबीर योगमार्ग की क्लिष्ट साधनाओं को भी बाह्याचार ही समझते हैं, इसलिए वे जिस सहज-समाधि की धोषणा करते हैं उसमें नाना प्रकार के प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राएँ परमतत्व की उपलब्धि के साधन हैं, साध्य नहीं। सहज-समाधि से ही अगर वह उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो काया को क्लेश देने से क्या लाभ है ? आँखें मूँदे बिना, मुद्रा धारे बिना, आसन लगाए बिना, खुली आँखों से परमाराध्य का मनोहर रूप देख सकना ही सहज-समाधि है। ऐसे साधक का हिलना-डुलना सबकुछ परिक्रमा है, सोना–बैठना ही दंडवत है, बोलना ही नाम-जप है, खाना-पीना ही पूजा है। एक बार इस सहज-समाधि में जो साधक रम गया वह उस अनहद नाद को निरंतर सुनता रहेगा, जिसके सुनने मात्र से व्यक्ति का रोम–रोम प्रफुल्लित हो जाता है, समस्त इंद्रिय श्लथबंध हो जाते हैं, मन आनंद से परिपूर्ण हो जाता है। जन्म-मरण का ज्ञान हस्तामलक की भाँति सहज हो जाता है; न तो साधक से कोई उद्विग्न होता है और न किसी और से साधक ही उद्वेग पाता है। इस प्रकार सहजावस्था कबीर के मत से वह है, जहाँ भक्त सहज ही भगवान को पा सके। पुत्र-कलत्र और वित्त का त्याग करना कृतघ्नता है, कोई एक ऐसा योग है जिसमें ये चीजें स्वयं छूट जाती हैं। कबीरदास ने इसी 'अनासक्ति योग' को अपनाया था और उनसे अपने पुत्र और कलत्र की ममता और अर्थ-काम की चिंता सहज ही चली गई थी - वे एकमेक होकर राम से सहज ही मिल सके थे।

11.13 खसम

'खसम' पद सिद्धों के यहाँ 'सहजावस्था' या 'शून्यावस्था' का वाचक है । 'खसम' का शाब्दिक अर्थ है, शून्य अथवा आकाश के समान। आकाश के समान व्यापक मन में जो साधक अपने मन को लीन कर देता है वह उत्तम पुरुष निश्चय ही स्वभाव से क्रीड़ा करता है। इस तरह यह शब्द नैरात्म्य भाव के लिए प्रयुक्त होने लगा। बौद्धों के यहाँ नैरात्म्य का अर्थ आत्मा के लुप्त होने का भाव था, वहीं सिद्ध-नाथ इसे एक ऐसी अवस्था का वाचक समझने लगे जिसमें न भाव का अनुभव होता है, न अभाव का – 'है' और 'नहीं है' का बोध तिरोहित हो जाता है। यही अवस्था सिद्धों का 'खसम' है जबकि योगियों ने इसके तुल्यार्थ 'गगनोपम' शब्द का प्रयोग किया।

कबीरदास तक 'खसम' शब्द दो मूलों से पहुँचा। हठयोगियों के माध्यम से यह आत्मा के शून्य चक्र में पहुँचकर समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और अरबी मूल से मुसलमानी माध्यम द्वारा पति के अर्थ में। कबीर मेरुदंड पर दुलैचा डालकर समाधि लगाने को कच्चा योग ही समझते थे। इसलिए उन्होंने शून्य समाधि वाली 'गगनोपमावस्था' या 'खसम भाव' को क्षणिक आनंद ही माना; बड़ी चीज तो सहज-समाधि है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'इसी कारण कबीर ने खसम का अर्थ सब समय 'निकृष्ट पति' ही समझा। इंद्रिय-वधुओं का खसम के साथ 'सूतने' अर्थात 'यौगिक क्रियाओं द्वारा मुग्ध बने रहने को उन्होने कुछ इसी अर्थ में प्रयोग किया है।' इसके अलावा कबीर ने इंद्रियों के दास मन को भी कभी-कभी खसम कहा है जो इंद्रियों रूपी पत्नी को वश में न कर सके। इंद्रियाँ दस प्रकार की होती हैं जिनमें पाँच ज्ञानेद्रियाँ हैं : कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक तथा पाँच ही कर्मेन्द्रियाँ है : हाथ, पाँव, जीभ, पायु और उपस्थ।

11.14 घरनी

सिद्धों के यहाँ 'घरणी' अथवा 'घरनी' शब्द प्रायः चित्त की तीन वृत्तियों के अर्थ में संकेतित होता है : अवधूती, चांडाली और डोंबी या बंगाली। 'अवधूती' में द्वैत ज्ञान बना रहता है, 'चांडाली' में द्वैत ज्ञान के बने रहने को भी कह सकते हैं, नहीं भी कह सकते है; पर डोबी या 'बंगाली' में विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान ही विराजा करता है। प्रथम का रास्ता इड़ा मार्ग से है, दूसरी का पिंगला मार्ग से और तीसरी का सुषुम्ना मार्ग से। कबीर-काव्य में खसम-भाव को पहचानने वाली जो 'घरनी' आती है – वह अद्वैत ज्ञान वाहिनी वृत्ति वाली सुषुम्ना ही है।

11.15 निरंजन

कबीर-काव्य में जिस 'निरंजन' का उल्लेख आता है उसके सूत्र मध्यकालीन साधनाओं में खोजे जा सकते हैं। साधारणतया 'निरंजन' निर्गुण ब्रह्म और विशेष रूप से शिव का वाचक माना जाता रहा है। नाथपंथ में भी यह शब्द खूब परिचित है। मध्ययुग में एक अन्य पंथ भी विकसित हुआ, जो निरंजन-पद को परम-पद मानता था और 'निरंजनी सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे यह पंथ कबीरपंथ में अंतर्भुक्त हो गया और साथ ही निरंजन की महिमा में भी गिरावट आई।

कबीरदास के यहाँ जिस 'निरंजन' की महिमा का वर्णन है, सम्भवतः वह नाथ पंथ से होकर उन तक पहुँची थी। इसलिए इस 'निरंजन' को समझने के लिए हठयोगी निरंजन को समझना चाहिए। हठयोग में मान्यता है कि जब साधक नादानुसंधान का सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत

निरंजन में लीन हो जाते हैं। यह योगी का परमसाध्य है, क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजन के साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसार के विविध जीवों और नाना पदार्थों में भेद-दृष्टि बनी रहती है। एक विशेष पद तक पहुँचने पर निरंजन का साक्षात्कार होता है। ऐसी हालत में योगी समस्त उपाधियों या विशेषताओं से हीन हो जाता है और तभी वह अपने को अखंड ज्ञान रूपी निरंजन कह सकता है। ऐसा कहा गया है कि बिंदु-युक्त ओंकार का योगी लोग नित्य ध्यान करते हैं। इसके भी ऊपर निरंजन है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है। 'माया' इसी की शक्ति है। यही परम तत्व है जो सद्‌गुरु कृपा बिना दुर्लभ है। स्पष्टतः निरंजन का साक्षात्कार ही हठयोग में परमपद है। स्वयं कबीरदास की कुछ उक्तियों में भी निरंजन को परमाराध्य बताया गया है।

11.16 पिंड और ब्रह्मांड

हठयोग दर्शन मे 'पिंड' और 'ब्रह्मांड' के अन्योन्याश्रय पर बहुत कुछ कहा गया है और ऐसा माना गया है कि जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। ब्रह्मांड से आशय उस निःसीम अनंत सत्ता से है जो इस समस्त सृष्टि के रूप में फैली है, जो समष्टि है, जबकि पिंड का आशय व्यष्टि से है। अखंड, अगोचर का प्रकाश ही पिंड के रूप में पूंजीभूत होता है। कबीरदास भी कहते हैं कि ब्रह्मांड में जो वस्तु निंरजन है, वही पिंड में मन है। चूँकि पिंड ब्रह्मांड का अंश है, इसलिए दोनों में एक समतुल्यता है। पिंड में ब्रह्मांड है और ब्रह्मांड में पिंड। पिंड अर्थात मानव-देह का आधार-चक्र ब्रह्मांड में पृथ्वी के समकक्ष है और इसी प्रकार जिस तरह पृथ्वी के नीचे और ऊपर क्रमशः सात नरक लोकों एवं ग्यारह चक्रों की कल्पना की गई, उसी तरह शरीर में भी। कहा गया है कि जिस प्रकार ब्रह्मांड के तीन स्तर हैंः अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक, उसी प्रकार पिंड के भी। कबीरदास ने पृथ्वी के ऊपर दस मुकाम माने हैं; ये दस मुकाम जिस प्रकार ब्रह्मांड में हैं, उसी प्रकार पिंड में भी हैं। वैसे लोकों और चक्रों की अत्यधिक जटिलता का श्रेय कबीर पंथ को ही दिया जाना चाहिए।

11.17 उलटी बानी या उलटबाँसी

उलटबाँसी का अर्थ है, साधारण कथन की तुलना में उलटा कथन। कबीर कई स्थलों पर अपनी वाणियों को 'उलटी बानी' कहते हैं, जिसका मतलब उलटबाँसी ही है। इसकी परम्परा सहजयानियों की 'संध्या भाषा' और योगियों के उलटे कथनों से जोड़ी जाती है। 'संध्या भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आए और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब स्पष्ट हो जाए। यह अभिप्राययुक्त भाषा है। इसमें निहित अभिप्राय को समझने के लिए प्रतीकों का अर्थ खोलना जरूरी होता है। कबीर की 'उलटबाँसी' भी प्रतीकार्थ खुलने पर ही समझ आती है।

योगियों मे मान्यता रही है कि एक योग-सम्प्रदाय के सिवा अन्य सभी मतों की बात उलटी है। दुनिया का जो क्रम है : धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष; ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास; शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीभत्स-भयानक-अद्‌भुत-शांत; पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश; ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि वह सब उलटा है। जो श्रेष्ठ है उसे पहले स्थान देना चाहिए, अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठ को बाद में। इस तरह वास्तविक क्रम बिल्कुल उलटा होगा : मोक्ष धर्म-अर्थ-काम; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य इत्यादि। इस साम्प्रदायिक वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि योगी दुनिया से उलटी बातें कहने के अभ्यस्त हो गए। पारिभाषिक शब्दों से युक्त इस उलटी बानी में प्रभावित करने की बहुत शक्ति थी। इसीलिए संसार से उलटी बातें कहने के बावजूद इन योगियों के प्रभाव और प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई। कबीर इन योगियों से प्रभावित बहुत हैं, पर वे स्वयं वही नहीं जो योगी हैं। वे यौगिक क्रियाओं को

भी बाह्याचार ही समझते हैं और जहाँ तक बन पड़ा उनके पीछे के खो चुके प्रतीकार्थों और अभिप्रायों की पड़ताल और पुनर्व्याख्या की कोशिश करते भी वे अकसर उपस्थित होते हैं; तथापि योगियों के उलटे कथनों के जनता में जबर्दस्त प्रभाव से भी कबीर परिचित थे और इसीलिए वे उलटबाँसियों का सहारा लेते हैं।

कबीर की 'उलटी' बानी में कई तरह के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है – कुछ प्रतीक शास्त्रीय परम्परा से ग्रहण किए गए हैं तो कुछ उसके निषेध में और कुछ प्रतीक कबीर के नितांत मौलिक हैं। इस प्रकार कबीर की उलटी बानी अपनी व्याख्या के लिए स्वयं सिद्धांतों की अपेक्षा रखती है। ऐसे में इनका अर्थ करते समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है : शास्त्रीय परम्परा और कबीरदास का व्यक्तिगत मत। जहाँ रूपक और प्रतीक शास्त्रीय परम्परा से इतर हों, वहाँ उनका अर्थ खोलते समय दो सावधनियाँ बरतनी चाहिए – एक तो प्रसंगानुकूलता और दूसरा यह कि अर्थ और अभिप्राय कबीरदास के सिद्धांतों के विरुद्ध न हो। कबीर के यहाँ प्रयुक्त साधर्म्य के आधार पर कुछ उपमेय-उपमान यहाँ दिए जा रहे हैं–

उपमेय	**उपमान**
• चित्त	– भ्रमर, अग्नि
• मन	– मत्त गजेंद्र, खग, पारद, मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन
• अंतरंग (अंतःकरण)	– भुजंगम, हरिण
• वायु	– सिंह, गज, व्याघ्र
• ब्रह्मनाड़ी	– बिल
• नाद	– शिकारी, गंधक, काष्ठ
• उन्मनी	– कल्पलता
• इड़ा	– सूर्य-अंग, वरुणा, गंगा
• पिंगला	– चंद्र-अंग, यमुना, असी
• सुषुम्ना	– शून्य मार्ग, शून्य पदवी, राजपथ, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, ब्रह्म नाड़ी, सरस्वती
• कुंडलिनी	– कुहिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुंडली, अरुंधती, बालरंगा
• मूलाधार पद्म	– सूर्य
• ब्रह्मरंध्र	– चंद्र, त्रिवेणी, शून्य, कमल, कूप, गगन
• चंद्र का रस	– सोमरस, अमर वारुणी, वारुणी, मदिरा
• जीवात्मा	– पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी
• माया	– माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया
• संसार	– सागर, वन, सीकस
• नरातन	– यौवन, दिवस, दिन
• इंद्रिय	– सखी, सहेलरी

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संकेतों – रूपकों की जानकारी भी कबीर-काव्य के अध्ययन

के लिए अपेक्षित है, यथा –

संकेत	संकेतित
• उल्टी गंगा	– संसारमुखी रागरूपी गंगा का ब्रह्म-मुखी होना, ब्रह्मांड में चढ़ाई हुई साँस, इड़ा
• समुद्र	– संसार, संताप
• शशि	– जीवात्मा, इड़ा
• सूर्य	– नाना निरंजनादि ईश्वर का ज्ञान, पिंगला
• नवग्रह	– वैशेषिक के नौ पदार्थ, नवद्वार
• जल	– राग, ब्रह्मांड
• बिंब	– शुद्ध साहब का अंश, ब्रह्म ज्योति
• रोगिया	– ग्रह-ग्रस्त संसारी, योगी
• शश	– अहंब्रह्म विचार, मन, संसारी
• सिंह	– तैं (मूढ़), जीवात्मा, मन
• औंधा घड़ा	– साहब से विमुख मनुष्य, बहिरंग वृत्ति, जीवात्मा
• सूधा घड़ा	– साहब की ओर उन्मुख मनुष्य, अंतरंग वृत्ति, जगत् मुख शरीर उद्‌बुद्ध कुंडलिक शरीर
• गुफा	– शरीर, गगन, गुफा
• उलटा बाण	– सूरति, श्वास, प्राण वायु
• पारधी	– पार्थिव परम पुरुष, वीर, मन
• नटवरबाजी	– निर्गुण ब्रह्म को देखना
• नटवरबाज	– अनाहत नाद
• धरती	– जड़ माया, पिंगंड, मूलाधार
• आकाश	– ब्रह्म, ब्रह्मांड, शून्य चक्र
• प्याला	– स्थूल-सूक्ष्मादि पंच शरीर, अन्यान्य साधना, इंद्रिय
• अमृत	– साहब के प्रति प्रेम, निजानंद रूप अमृत अमर वारुणी
• नदी	– जगत्, आत्माकार वृत्ति, नाड़ी
• नीर	– राग, श्वास
• राम सुधा रस	– राग-प्रेम, आनंदामृत, सहजामृत

इस संदर्भ में यह याद रखना जरूरी है कि कबीर के यहाँ प्रतीक रूढ़ नहीं हैं, इसलिए प्रसंग बदलने से उनके अर्थ भी बदल जाते हैं। कबीर के पाठकों को इसलिए प्रसंगानुकूलता एवं कबीर के सिद्धांतों का ध्यान रखते हुए उनका अर्थ करना चाहिए। दूसरे यह कि प्रतीकों की यह सूची अंतिम नहीं है, क्योकि कबीर काव्य की भाँति उनके प्रतीक भी अथाह हैं।

11.18 माया

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियों ने इस गुणमय जगत पर विचार कर निष्कर्ष निकाला है कि इसमें दो अत्यंत स्पष्ट तत्व हैं : एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्तन-शील; एक सदा एकरस है, दूसरा नाशवान; एक चेतन है, दूसरा जड़। पहले को आत्मा कहते हैं, सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्व को 'माया' या 'प्रकृति' कहते हैं। गीता में कृष्ण ने प्रकृति अर्थात माया को अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस चराचर सृष्टि को प्रसव करती है। स्पष्टतः त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है। ये त्रिगुण सत्व, रज और तम माने गए है। कबीर भी कहते हैं : 'रजगुण तमगुण सतगुण कहिबे, यह सब तेरी माया।' परंतु यह भी माना गया है कि जो माया चैतन्य—रूप ब्रह्म को ईश्वर-रूप में प्रकट करती है वह सत्वगुण प्रधान है, अर्थात उसमें 'रजोगुण और तमोगुण का प्रायः अभाव है। वेदांत में प्रकृति के दो प्रकार माने गए हैंः विशुद्ध सत्व प्रधान और अविशुद्ध सत्व प्रधान। पहली को 'माया' कहते हैं, दूसरी को अविद्या । पहली ईश्वर की उपाधि है, दूसरी जीव की। इसीलिए कहा जा सकता है कि माया ही संसार को चला रही है, क्योकि मायोपाधिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसे ही लक्ष्य कर कबीरदास कहते हैं कि 'यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी को मार रही हैं।' यहाँ रघुनाथ वेदांतियों के परब्रह्म प्रतीत होते हैं किंतु कबीरदास माया और अविद्या को अलग करते नहीं दिखते। उनके अनुसार माया ही जीवों को भरमा रही है। वही उन्हें भी भरमाने पहुँची थी, पर कबीर फँसने वाले जीव नहीं थे।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था-रूप जो माया है वही त्रैलोक्य का कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस माया के कारण। माया निरंजन की शक्ति है। ब्रह्मांड में जो माया है, पिंड में वही कुंडलिनी है। कुंडलिनी का नाम ही माया है, आद्याशक्ति है। कबीर इसे नागिन, ठगिनिया आदि कई नामों से सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मांड में जो वस्तु निरंजन है, वही पिंड में मन है। इसी को 'नाग' कहते हैं। इसी 'नाग' और नागिन ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इन्हें जो पार करता है वही विजयी होता है। कबीरदास ने माया के सम्बध मे जो कुछ कहा है, वह बहुत कुछ वेदांत द्वारा निर्धारित अर्थ में ही प्रतीत होता है यहाँ ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि कबीरदास के 'निर्गुण' मे गुण का अर्थ सत्त्व, रज और तम है इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार निस्सीम 'चौथा पद' समझते हैं, पर उसे निर्विषय नहीं मानते, इसलिए उसकी प्रेम-लीला में आस्था दिखाते हैं। इस परब्रह्म के दर्शन के बाद माया की मरीचिका जाती रहती है और जगत असत्य भासने लगता है।

11.19 निर्गुण राम

भारतीय चिंतन धारा में ईश्वर का स्वरूप विवाद का केंद्र रहा है। कहीं उसे निर्गुण कहा गया तो कहीं सगुण और कहीं उसे विरुद्ध धर्मयुक्त, उभयलिंगी भी कहा गया है। वेदांत के अनुसार ब्रह्म अपने आप में निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है, परंतु अविद्या या गलतफहमी के कारण, या उपासना के लिए उसमें उपाधियों या सीमाओं का आरोप करते हैं। स्वयं कबीरदास के ब्रह्म सम्बंधी विचार से एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्पर विरोधी मतों का समर्थन हो सकता है पर इस विरोध का कारण कबीर के विचारों की अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते थे। कबीर के ब्रह्म विचार में एक बात स्पष्ट है कि वे निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक

हैं। उनके राम, सत्व, तम और रज के त्रिगुण से परे गुणातीत हैं। ब्रह्म कर्त्ता है इसलिए वह कर्म के हाथ नहीं बिक सकता, तो वह अवतार कैसे हो सकता है। इसलिए कबीर के राम पुराण प्रतिपादित अवतार नहीं हैं।

अवतारवाद सगुण मत की केंद्रीय अवधारणा है जिसके अनुसार ब्रह्म पृथ्वीलोक में अवतार ग्रहण कर नाना प्रकार के कर्म और लीलाएँ सम्पन्न करते हैं, दुष्टों का संहार करते हैं, दीनों की रक्षा करते हैं। पर कबीर के राम इस सब से परे हैं। वे न तो दशरथ के घर उतरे और न लंकेश का नाश करने वाले हैं। कबीर के निर्गुण ब्रह्म न तो देवकी की कोख से पैदा हुए, न यशोदा ने उन्हें गोद में खेलाया; न तो उन्होंने वामन होकर बलि को छला, न वेदोद्धार के लिए वराह रूप धारण कर धरती को अपने दाँतों पर उठाया; न वे गंडक के शालिग्राम हैं, न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेषधारी विष्णु के अवतार; न तो वे नरनारायण के रूप में बदरिकाश्रम में ध्यान लगाने बैठे और न परशुराम होकर क्षत्रियों का ध्वंस करने गए; न तो उन्होंने द्वारिका में शरीर छोड़ा और न वे जगन्नाथ धाम में बुद्ध रूप में ही अवतरित हुए। कबीर का मानना है कि ये सब ऊपरी व्यवहार हैं। जो संसार में व्याप्त हो रहा है वह राम इनकी अपेक्षा कहीं अधिक अगम अपार है। कबीर ने बारम्बार 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।' जैसी बातें कहकर पुराण प्रतिपादित सगुण ब्रह्म का प्रत्याख्यान किया है। वे बार-बार याद दिलाते हैं कि यह जो उपासना बताई जा रही है वह सगुण अवतार की नहीं, वरन् 'निर्गुण राम' की है। उसको दूर खोजने की जरूरत नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि लहू, झूठ है, धर्म झूठ है, केवल सत्य है वह राम जो इस सारे शरीर में रम रहा है।

हरि, गोविंद, राम, केशव, माधव, आदि पौरणिक नामों से कबीरदास अपने परम उपास्य को पुकारते हैं तो सगुण अवतारों से उनका कोई मतलब नहीं होता । उनका 'अल्लाह' अलख निरंजन देव है जो सेवा से परे है; उनका विष्णु वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है 'गोविंद' वह है जिसने ब्रह्मांड को धारण किया है; 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; 'खुदा' वह है जो दस दरवाजे खोल देता है; रब वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है; महादेव वह है जो मन को जानता है; 'सिद्ध' वह है जो इस 'चराचर' दृश्यमान जगत का साधक है; नाथ वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र यति या योगी है – जगत के जितने साधक, सिद्ध पैगम्बर हैं, वे इस एक की ही पूजा करते हैं। अनंत हैं, उसके नाम अपरम्पार है उसका स्वरूप वहीं कबीर का उपास्य ब्रह्म है। यह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, धरती नहीं, आकाश नहीं, सूर्य और चंद्र नहीं, पानी-पवन नहीं ... समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण सबसे न्यारा, समस्त वेदों से अतीत, भेदाभेद अतीत, पाप-पुण्य से परे, ज्ञान-ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म विवर्जित, भेख और भीख से अगम्य, डिंभ और रूप से अतीत-अनुपम त्रैलोक्य विलक्षण परमतत्व है।

उपनिषदों में परम पद को यह भी नहीं, वह भी नहीं 'नेति–नेति कहकर' बताया गया है परंतु कबीर के लिए निर्गुण महज एक निषेधात्मक भाव या सत्ता नहीं है। वस्तुतः वे भगवान को गुणातीत मानने के कारण उसे निर्गुण कहते हैं। फिर वे यह भी कहते हैं कि यह धोखा कैसे कहा जाए कि वह गुण में भी निर्गुण की तरह और निर्गुण में भी गुण की तरह समाया हुआ है। लोग उसे अजर-अमर कहते हैं, पर असल बात यह है कि वह अलख, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण तो केवल धोखे हैं। वह भाव-अभाव से परे 'भावाभावविनिर्मुक्त' है। न तो वह द्वैत पक्ष का विषय है, न अद्वैत पक्ष का प्रतिपाद्य। इसे ठीक–ठीक कहकर नहीं समझाया जा सकता-असल समस्या यही है। चूँकि वह निर्विषय नहीं है इसलिए भावों का कायल है और यह कारण है कि कबीर उसकी लीलाओं में मुग्ध

हैं । वे विभिन्न सामाजिक सम्बंधों की उससे कामना करते हैं। कही वह पति, प्रियतम है तो कहीं जननी और कहीं कबीर उस मालिक राम का दास, उसका कुत्ता तक बन जाते हैं। अनन्य है यह शरणागति। कबीर का वह 'एक ही एक' इस्लाम का एकेश्वरवादी नहीं है जो समस्त जगत और जीवों से भिन्न और परम समर्थ है; बल्कि कबीर का ब्रह्म तो स्वयं 'घट-घट का वासी' है और जब पूरी सृष्टि में वही वह है तो फिर समर्थ क्या और असमर्थ क्या?

11.20 सारांश

कबीर का काव्य भारतीय चिंताधारा में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित करता है। विभिन्न दार्शनिक मतवादों और साधना-पद्धतियों के द्वंद्व और संश्लेष तथा स्वयं की प्रखर प्रतिभा के उपयोग से कबीर अपने दर्शन एवं साधना का निर्माण करते हैं। उनकी रचनाएँ ही उनके मंतव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं इसलिए उनमें विभिन्न पारिभाषिक शब्द बिखरे मिलते हैं। कबीर काव्य का भावक इन शब्दों से परिचय के बगैर उनके दर्शन एवं साधना का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता और न उनकी वाणियों का समुचित अर्थ ही कर सकता है। दूसरी ओर सांस्कृतिक विकास के दौरान अवधारणाओं में ऐतिहासिक परिवर्तनों को भी इन शब्दों के ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता हैः अर्थात् परम्परा से प्राप्त ज्ञान-राशि से कबीर क्या ग्रहण करते हैं, क्या छोड़ देते हैं और किन अवधारणाओं की मौलिक पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करते हैं इसकी समझ कबीर की कविता में प्रयुक्त शब्दों के ज्ञान तथा अर्थ खोलने से ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में, इन पारिभाषिक शब्दों की समुचित जानकारी से ही जाना जा सकता है कि सांस्कृतिक विकास में कबीर की देन क्या है? निश्चय ही कबीर का दर्शन विभिन्न मतवादों से साक्षात्कार की उपलब्धि है और इस इकाई के अध्ययन के दौरान आप यह समझ सके होंगे कि हठयोग आदि दर्शनों का कबीर पर कितना प्रभाव पड़ा है? इस प्रकार उनके काव्य की पारिभाषिक शब्दावलियों के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि कबीर के संतमत के दार्शनिक स्रोत क्या हैं और वे किन विचारों से प्रभावित हुए हैं। इसके अतिरिक्त कबीर के पदों की व्याख्या के लिए भी यह जरूरी है। हालाँकि यह ध्यान देने की बात है कि प्रस्तुत इकाई में दिए गए पारिभाषिक शब्दों की यह सूची अनंतिम है और कबीर काव्य की भाँति उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की संख्या भी अथाह है। अतः विद्यार्थियों को इसके लिए भी सचेत रहना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या का यह परम्परागत तरीका है; अर्थात अब तक कबीर काव्य के अध्ययन के लिए इन शब्दों की व्याख्या इसी प्रकार की जाती रही है। किंतु प्रत्येक युग अपनी परम्परा से प्राप्त साहित्य की युगानुरूप प्रासंगिक व्याख्या की माँग करता है इसलिए वर्तमान समय के अनुरूप कबीर-काव्य की व्याख्या में विस्तृत सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। पाठकों के लिए अपनी चेतना और बौद्धिकता के उपयोग द्वारा खासकर कबीर की उलटबाँसियों की प्रासंगिक और मौलिक व्याख्या का प्रशस्त मार्ग खुला हुआ है।

11.21 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर काव्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का परिचय देते हुए यह बताइए कि उनमें से कौन कबीर द्वारा सृजित हैं तथा कौन दर्शन की किस शाखा से सम्बंध रखते हैं?
2. कबीर काव्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के आधार पर बताइए कि कबीर के चिंतन पर किन साधना-पद्धतियों एवं दार्शनिक मतवादों का प्रभाव पड़ा है?

3. कबीर काव्य के पठित अंशों में से किन्हीं दो उलटबाँसियों की वर्तमान समय के सापेक्ष मौलिक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

11.22 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना, साहित्य भवन, 1952, प्रयाग
- हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, हिंदुस्तानी एकेडेमी, 1950, इलाहाबाद
- हजारीप्रसाद द्विवेदी : सहज साधना, म. प्र. शासन साहित्य परिषद, भोपाल
- परशुराम चतुर्वेदी : बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, भा. वि. भवन, 1970, वाराणसी
- हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, राजकमल, 1971, नई दिल्ली

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 कबीर के काव्य में छंद और अलंकार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 कबीर के काव्य में छंद

12.3 कबीर के काव्य में काव्य रूप

12.4 कबीर के काव्य में अलंकार

12.5 सारांश

12.6 अभ्यास प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम कबीर काव्य में छंद और अलंकार पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर काव्य में प्रयुक्त छंद में इंगित लोकधर्मी काव्य परम्परा को जान सकेंगे;
- कबीर काव्य में निहित अलंकारों की सहज प्रयुक्ति को समझ सकेंगे; और
- कबीर के काव्य में निहित छंद एवं अलंकार तद्युगीन काव्यभाषा की वैचारिक संवेदना के अभिव्यक्ति का एक भाग के रूप में किस प्रकार प्रस्तुत हैं, इसे समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

मध्ययुगीन वैचारिक परिवेश में काव्य भाषा के अनुरूप छंद और अलंकार का प्रयोग निर्गुण संत कबीर ने स्वाभाविक ढंग से किया है। अनुभव साँचा,आँखिन देखी, प्रत्यक्ष की विभावना, ऐंद्रिक, वैचारिक एवं भावात्मक स्तर पर कबीर ही करते हैं।

मध्ययुगीन भक्तिकालीन परिवेश के कारण कबीर के काव्य में छंद एवं अलंकार प्राकृतिक ढंग से आए हैं। काव्यशास्त्रियों की तरह काव्यभाषा में छंद एवं अलंकारों को कबीर ने सायास काव्य में प्रयुक्त नहीं किया है। उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कबीर की प्रासंगिकता सर्वविदित है। भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' या अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' या उषा प्रियंवदा का उपन्यास 'भया कबीर उदास' की ख्याति, समय की माँग एवं कालजयीपन कबीर की मानवधर्मी दृष्टि का द्योतक है।

12.2 कबीर के काव्य में छंद

मध्यकालीन बोध एवं उत्तर आधुनिक कबीर के काव्य रूप की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता के बाद रमैनी, सबद, साखी एवं विभिन्न सम्पादकों द्वारा सम्पादित कबीर ग्रंथावलियों का अध्ययन करने की प्रक्रिया में 14 काव्य रूप एवं तकरीबन 30 प्रकार के छंदों का प्रयोग मिलता है। निश्चित रूप से कबीर, काव्य रूपों को पूर्ववर्ती सिद्धों, नाथों एवं योगियों की परम्परा से ग्रहण करते हैं। इसीलिए ये काव्य रूप शास्त्रीय न होकर लोककाव्य से जुड़े हैं। निर्गुण ज्ञानाश्रयी संतकाव्य में साखी, सबदी, रमैनी, चौंतीसा, बावनी, वार थिंती,

चाँचर, बसंत, हिंडोला, बेलि, विप्रमतीसी, कहरा और बिरडुली लोकसंगीत की राग-रागनियों से इस तरह ओत-प्रोत हैं कि शास्त्रीय काव्य रूपों को दर किनार कर लोकभोग्य काव्य रूप को विविध तुकों एवं लयों से लोकभाषा को समृद्ध किया है। अक्षरों/वर्णों का प्रास, राग-रागिनी यानी वृत्ति (कोमलावृत्ति या परुषावृत्ति) से सम्बद्ध हैं। वृत्ति का सम्बंध रीति से है। रीति का सम्बंध गुण एवं रस से है। इसीलिए रीति में छंद, संगीत, गुण, रीति, रस एवं अलंकार आदि अनुस्यूत हैं। पदों में राग गौड़ी (सं. श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली पद 1 से 152), राग रामकली (पद 153 से 201), राग आसावरी (पद 202 से 261), राग सोरठि (पद 262 से 299), राग केदारो (पद 300 से 319), राग मारू (पद 320 से 322), राग टोड़ी (पद 323-324), राग भैरूँ (पद 325 से 361), राग बिलावल (पद 362 से 373), राग ललित (पद 374 से 376),राग बसंत (पद 377 से 389), राग माली गौड़ी (पद 390 से 392), राग कल्याण (पद 393), राग सारंग (पद 394-395), राग मलार (पद 396 से 397), राग धनाश्री (पद 398 से 402) तथा रमैणी में राग सूहौ का प्रयोग कबीर की यायावरीय वृत्ति के साथ लोकभाषा को राग-रागिनियों में निबद्ध करते हुए छंद एवं अलंकार का भी प्रयोग किया है। विभिन्न प्रदेशों में भक्ति के अलग-अलग समय में गाए जाने वाले राग के कारण कबीर में राग वैविध्य मिलता है। लोक एवं शास्त्र के अंतर्सम्बंध को ध्यान में रखते हुए कबीर अनुभव साँचा को राग आसावरी में ढालते हैं :

मेरी मेरी करताँ जनम गयौ, जनम गयौ पर हरि न कहयौ ।। टेक ।।
बारह बरस बालापन खौयौ, बीस बरस कछु तप न कयौ ।
तीस बरस कै राम न सुमिरयौ, फिरि पछितानौं बिरध भयौ ।।
आयो चोर तुरंग मुसि ले गयौ, मोरी राखत मगध फिरै ।
सीस चरन कर कम्पन लागै, नैन नीर अस राल बहै ।।
जिभ्या बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै ।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ धन संच्यौ कछु संगि न गयौ ।
आई तलब गोपाल राइ की, मैंडी मंदिर छाड़ि चल्यौ ।।

आँखिन देखी को स्वाभाविक ढंग से लोककाव्य भाषा में स्वभावोक्ति अलंकार में निरूपित करना कबीर की जनधर्मिता का परिचायक है। इस पद के पाँचवीं छठीं पंक्ति में दृष्टांत अलंकार है। इस पद की चार प्रारम्भिक पंक्तियों में 17-14 तथा शेष पंक्तियों में 14-14 मात्राएँ कज्जल छंद के करीब हैं। इस राग आसावरी में प्रथम पंक्ति टेक की है। कबीर आप बीती एवं जग बीती को शास्त्रीय संगीत, राग, छंद, अलंकारादि में स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करते हैं। दिन के द्वितीय प्रहर में गाए जाने वाले राग आसावरी के आरोह में गांधार एवं निषाद स्वर वर्जित हैं।

युगीन परिस्थितियों के आधार पर साहित्य में काव्य रूप का प्रचलन देखने को मिलता है। छंद, संगीत, अलंकार, ध्वनि एवं अन्य काव्यांगों से काव्य रूप विकसित होता है। इसीलिए काव्यरूप एवं छंदों का अन्योन्याश्रित सम्बंध है। कबीर के काव्य रूप तत्युगीन लोक जीवन को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं इसीलिए विभिन्न छंदों का निदर्शन होता है। यदि श्यामसुंदरदास सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' को देखा जाए तो साखियों में समान्यतया **दोहा** अर्द्ध सम छंद के विषम चरणों में 13-13 तथा सम चरणों में 11-11 मात्राओं वाले चार चरण होते हैं। उदाहरणार्थ –

।। ऽ ऽऽ ऽ।ऽ ।।ऽ ।ऽ ।ऽ।
कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
ऽ। ।ऽऽ ऽ।ऽ ऽ ऽऽ ।।ऽ ऽ।
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करताँ जाइ ।।

कबीर ने लोक जीवन की यथार्थ आपाधापी को सहज ढंग से दोहा छंद में उतारा है। इसी क्रम में सोरठा छंद के प्रथम एवं तृतीय चरण में 11-11 तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में 13-13 मात्राएँ होती हैं। यानी दोहा छंद का ठीक विपरीत सोरठा छंद है। कबीर की कविताई में **सोरठा** छंद भी सहज ही आया है। उदाहरणार्थ –

।।।। ऽऽ ऽ। ।। ऽ ।। ऽ।ऽ ।।
समंदर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई।
ऽ। ।ऽऽ ऽ। ऽऽ ऽऽ ।। ।।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ।।

कई बार कबीर की साखियों में छंदों के अनुरूप कुछ मात्राएँ ठीक होती हैं और कुछ मात्राएँ कम या ज्यादा होती हैं। जैसे इस सोरठे के ही अंत में 'भई' और 'गई' माना जाय तो 14 मात्राएँ होती हैं। इसी तरह 23 मात्राएँ 13-10 पर यति और अंत में गुरु (ऽ) के साथ **उपमान छंद** द्रष्टव्य है –

ऽ।। ऽ ऽ ऽ ।ऽ ऽऽ ।। ऽ ऽ
मृतक कू धी जौ नहीं, मेरा मन बी है।
ऽऽ ऽ। ।ऽ।ऽ ऽ ऽ ऽऽ ऽऽ
बाजे बाव बिकार की, भी मूवा जीवै।।

काव्य रूप के अनुरूप छंद विधान कबीर की अपनी देन है। कबीर लोकजीवन के भावों के अनुरूप छंदों का निर्माण करते हैं । 13-12 मात्राओं पर यति तथा अंत में दो-दो गुरु (ऽऽ) के साथ 25 मात्राओं का **मुक्तामणि** छंद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ –

।। ऽ ।। ऽऽ ।ऽ ।। ।। ऽऽ ऽऽ
अपनी कह मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होए।
।।ऽ ऽ।। ।। ।ऽ ऽऽ ।ऽ । ऽऽ
हमरे देखत जग गया, ऐसा मिला न कोए ।।

कबीर साहित्य का गम्भीर अध्ययन करने के बाद शास्त्रीय छंदों को ढूँढ़ना आसान हो गया है। उनके सामान्य से सामान्य पद या साखी में छंद विधान का सौंदर्य दृष्टिगत होता है। सामान्य उक्तियों में भी वे गम्भीर से गम्भीर बात कर जाते हैं। 23 मात्राओं 13-10 पर यति, अंत में रगण (ऽ। ऽ) के साथ **अवतार छंद** का लालित्य लोकग्राह्य है। उदाहरणार्थ –

ऽ ऽ । । ऽ ऽ । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
तू तू करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ।
ऽऽ ऽऽ ऽ। । । । । ऽऽ । । ऽ
वारी तेरे नाउ परि, जित देखौं तित तूँ।।

अभी तक कबीर का अध्ययन भक्त, कवि, निर्गुण, निरंजन आदि के आधार पर किया गया है परंतु शास्त्रीय छंदों के रूप विधान को देखकर पाठक को भी आश्चर्य होता है। यायावरीय प्रवृत्ति के कारण कबीर ने छंद शास्त्रों का प्रयोग लोकजीवन के शास्त्र से सीखा। इसीलिए उनके यहाँ **दोहकीय** छंद 26 मात्राओं (प्रथम, तृतीय में 13 तथा द्वितीय, चतुर्थ चरण में 13 मात्राएँ) के साथ समचरण एवं मात्रा वाला मिलता है। उदाहरणार्थ –

।ऽ। ।। ऽ।। ।ऽ ।। ऽऽ ऽ। ।ऽ।
कबीर मन सीतल भया, जब माया ब्रहम गिआन।
।। ऽऽ।। ।। ।ऽ ऽ ऽऽ ।।। ।ऽ।
जिहिं बैसंदर जग जरै, सो मेरै उदिक समान।।

निर्गुण ब्रह्म की उपासना में तल्लीन कबीर जग ताप से अपने को दूर पाते हैं क्योंकि अपनी भक्ति पर उन्हें अटूट विश्वास है। इसीलिए 'हरि मरिहै तू हमहूँ मरिहैं' भी कहते हैं। कबीर के यहाँ छंदों का प्रयोग शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों रूपों में मिलता है। उनके छंद वैविध्य को देखकर नाना प्रकार के प्रश्न तथा जिज्ञासा उत्पन्न होती है। फिलहाल 26 मात्राओं 14-12 पर यति में गुरु लघु (ऽ।) अंत्यानुप्रास के साथ **गीता छंद** मिलता है। उदाहरणार्थ –

ऽऽ ऽ।ऽ ।। ।ऽ ।। ऽ।ऽ ।। ऽ।
आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
।।। ऽऽऽ ऽ। ऽ ।। ऽ । ऽ ऽऽ।
अकथ कँहाणी प्रेम की, कहया न को पत्याइ।।

सामान्यतः कबीर की साखियों में उपरोक्त छंद दृष्टिगत होते हैं। परंतु उनके सबदों या पदों में कुछ भिन्न प्रकार के छंद मिलते हैं। इनमें 16 मात्राओं, चार चरण एवं दो गुरु के साथ **चौपाई छंद** का प्रयोग भी मिलता है। उदाहरणार्थ –

।। ।। ऽ। ऽ। ।। ऽऽ ऽ ऽ ।।। ।।। ।। ऽऽ
जब लग मोर तोर करि लीन्हाँ, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हा।
।।। ।।। ऽ। ।। ऽऽ ऽ ।।ऽ ।। ऽ। ।ऽऽ
अगम निगम एक करि जाँनाँ, ते मनवाँ मन माँहि समाना।।

कबीर ने लोकजीवन से ही **चौपई छंद** को भी ग्रहण किया है। चार चरण एवं 16 मात्राओं के साथ अंत में लघु कर देने से चौपई छंद बनता है। उदाहरणार्थ –

ऽऽ ऽ।। ।। ऽ । ऽ। ।ऽ ऽ। ।ऽ ऽऽ ऽ।
इंद्री स्वारथ मन के सवाद, जहाँ साच तहाँ माँडै बाद।
ऽ। । ऽ। ।।ऽ ।ऽ ऽ। । ऽ ।ऽ ।। ।ऽ ।ऽ।
दास कबीर रहया लयौ लाइ, मर्म कर्म सब दिये बहाइ।।

कबीर की कविताई शास्त्रीय न होकर भी शास्त्रीय छंद विधान से युक्त है। उनके पदों में तत्युगीन छंदों का बराबर निदर्शन होता है। **पद्धरी छंद** में चार चौकल अंत में जगण (।ऽ।) तथा आठ-आठ मात्राओं पर यति होती है। उदाहरणार्थ –

।।ऽ ।।ऽ ऽऽ ।ऽ।
'तननाँ बुनना तज्या कबीर।
ऽ। ऽ। ।। ।ऽ ।ऽ।
राम नाम लिखि लिया शरीर।
।। ।। ऽऽ ।ऽ ऽ ऽ।
जब लग भँरौ नली का बेह।
।। ।। ऽऽ ऽऽ ।ऽ।
तब लग टूटै रामू सनेह।।

कबीर वृत्तियों एवं काव्य रीतियों का बराबर ध्यान रखते हैं। हालाँकि कबीर विद्रोही चेतना और सामाजिक सुधार के कवि माने जाते हैं। उनके यहां 16-16 मात्राओं पर यति अंत में भगण (ऽ।।) के साथ 32 मात्राओं वाला **डिल्ला छंद** मिलता है। यथा –

ऽऽ ।।। ।ऽ ।। ऽ।। ऽ। ऽ। ऽऽ ।। ऽ।।

दूजा बाणिज नहीं कछु बाषर, राम नाम दोऊ तत आषर।।

इनके पदों के चौपाई छंद के बीच-बीच में डिल्ला, चौपई एवं पद्धरी छंद मिलते हैं। अपनी उक्तियों के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विसंगतियों पर कबीर बराबर प्रहार करते हैं। काव्यरूप यानी काव्यशिल्प के बिना कबीर या किसी भी कवि साहित्यकार का मूल्यांकन अधूरा है।

चौपाई छंद की मात्राओं को इधर-उधर करने से ही कई छंद बनते हैं। उनमें से एक **वीर छंद** 31 मात्राएँ 16-15 पर यति अंत में गुरु लघु (ऽ।) के साथ द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ –

।ऽ। ऽऽ ।ऽ ऽऽ। ऽ। । ऽऽ ।। ऽ।ऽ।

कबीर कन्याँ करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भँरतार।।

लोक सम्पृक्ति के बगैर कविता या साहित्य का महत्व नहीं है यानी लोक मर्यादाओं का भी कबीर काफी ध्यान रखते हैं। आज के लोकजीवन की अनेक सच्चाइयाँ कबीर के काव्य में दिखाई दे रही हैं। लोक जीवन की संगीतात्मकता को कालजयी बनाने के लिए कबीर नव्यतम् छंदों का प्रयोग करते हैं। भक्तिकाल के अपने अंतर्विरोध हैं परंतु काव्य परम्परा का निर्वाह अलग-अलग संदर्भों में कवियों ने किया है। **चौबोला छंद** भक्ति साहित्य के प्रचलन में रहा जिसमें 30 मात्राएँ 15-15 पर यति अंत में लघु गुरु (।ऽ) होता है। कबीर के काव्य में यह छंद प्रयुक्त हुआ है –

।ऽऽ ऽ। ऽ। ऽऽ ।ऽऽ ऽ। ।ऽ । ।ऽ

कबीरा प्रेम कूल ढँरै, हमारे राम बिना न सरे।

कबीर राग रागिनियों को लोकजीवन के संगीत में पिरोते हुए छंद का सहज ही प्रयोग करते हैं। उनके पदों में '**अरिल्ल छंद**' भी प्रयुक्त हुआ है। इसमें 16 मात्राएँ चार चौकल अंत में भगण (ऽ।।) या यगण (।ऽऽ) होता है। उदाहरणार्थः–

ऽ। ऽ। ऽ ।। ।। ऽऽ ऽऽ ऽ।। ।।। । ऽऽ

तीन बार जे निज प्रति न्हावै, काया भीतरि खबरि न पावै।।

तात्विक गूढ़ से गूढ़ बातों को कबीर सामान्य से सामान्य पदों में लोक दृष्टांत के साथ व्यक्त करते हैं। यों, देखा जाय तो मध्ययुगीन भक्ति संगीत से ओत-प्रोत विविध प्रकार के छंद सहज ही संतों के पदों एवं बानियों में आए हैं। कबीर के यहाँ 30 मात्राएँ, 16-14 पर यति अंत में मगण (ऽऽऽ) के साथ **तातंक छंद** का भी प्रयोग मिलता है –

।।। ऽ। ।। ।ऽ ।ऽऽ ।। ऽ ऽ।। ऽ ऽऽ

अनत नाँव गिनि लई मजूरी, हिरदा कँवल मैं राखी।।

लोकजीवन से ओत-प्रोत छंदों के प्रयोग से कबीर के पदों की सम्प्रेषणीयता कई गुना बढ़ गई है। कबीर के पद जन-जन में व्याप्त हैं। उनके पदों में 30 मात्राओं का सममात्रिक **लावनी छंद** भी प्रयुक्त है जिसने राग-रागिनियों के लालित्य से ओत-प्रोत भक्ति एवं जनधर्मिता को द्विगुणित किया है। उदाहरणार्थ –

ऽऽ ।। ऽऽ। ऽ।ऽ ।।। । ऽऽ ऽऽ ऽ

ऐसो इहु संसार पेखना रहन न कोऊ पैहै रे।

ऽऽ ऽऽ ऽ। ।। ।।। ।। ऽ ।ऽऽ ऽ
सूधे सूधे रेगि चलहू तुम नतर कुछका दिवैहै रे।

कबीर अपनी कविता में छंद पदों की गेयात्मकता को भक्ति के अनुरूप बनाते हैं। इसीलिए उनके यहाँ छंद वैविध्य बराबर मिलता है। **सार छंद** में 28 मात्राएँ 16-12 पर यति अंत में दो गुरु (ऽऽ) होता है। उदाहरणार्थ –

ऽ। ऽ। ऽ ।।। । ऽऽ ऽऽ ऽ ।। ऽऽ
राम नाम का मरम न जानैं, माया कै रसि अंधा।
।।।। ऽ। ।। ऽ ऽऽ ।।। ।ऽऽ ऽ ऽऽ
जनमत हीरु कह लै आयो, मरत कहा ले जासी।।

वर्णों, वृत्तियों, शब्दों, छंदों एवं अलंकारों के समन्वय से कबीर की कविता उपजती है। संतों की घुमक्कड़ी प्रवृत्ति से सब परिचित हैं। भौगोलिक रीतिगत दबावों से वर्ण विन्यास एवं वृत्तियों में वैविध्य के कारण छंद वैविध्य उनके यहाँ प्रचुर मात्रा में मिलता है। कबीर के पदों में 28 मात्राएँ, 14-14 पर यति और अंत में मगण (ऽऽऽ) या यगण (।ऽऽ) के साथ **सखी छंद** मिलता है। उदाहरणार्थ –

।। ।।ऽ ऽ।। ऽऽ ऽऽ ऽ ।ऽ ।ऽऽ
जल अंजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा।
।ऽ ।ऽ। ऽ। ऽऽ ऽऽ । ऽ।ऽ ऽऽ
कहै कबीर जँग धंधा, कोहँ न चेतहू अंधा।।

कबीरदास लोकजीवन की निरर्थकता को बार-बार इंगित करते हैं। जीव मायामोह के बंधनों में पड़कर अनेक प्रपंचों में उलझता जाता है। **सरसी छंद** में वे अपनी इस चिंता को व्यक्त करते हैं। इस छंद में 27 मात्राएँ 16-11 पर यति और अंत में गुरु लघु (ऽ।) होता है। उदाहरणार्थ –

ऽऽ ऽ।। ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽ।
भूली मालिन पाती तोड़ै, पाती पाती जीव।
ऽ ऽ।। ऽ ऽऽ ऽऽ ऽ ऽ।। ।। ऽ।
जाँ मूरति की पाती तोड़ै, सो मूरति नर जीव।।

कबीर के पदों में छंदों की भरमार उनकी लोक निरीक्षण शक्ति एवं बहुज्ञता प्रदर्शित करती है या उनके शिष्य धर्मदास या सम्पादकों की। फिलहाल समय एवं परिस्थितियों के अनुसार शास्त्रीय अनुशासन स्वभावतया आ जाते हैं। इसीलिए उन्होंने 26 मात्राओं 16-10 पर यति और अंत में गुरु (ऽ) के साथ **विष्णुपद छंद** का प्रयोग अनजाने ही किया है। कालांतर में शास्त्रज्ञों ने निरूपित किया कि यह छंद विष्णुपद छंद है। उदाहरणार्थ –

ऽऽ ऽऽ ऽ ऽ। ऽऽ ।।। ।।। ऽऽ
प्राँणी काहै कै लोभ लागि, रतन जनम खोयौ।
।ऽ। ऽऽ ऽ। । ऽऽ ऽ। ।ऽ ऽऽ
बहूरि हीरा हाथि न आवै, राम बिना रोयौ।।

भक्तिकालीन संगीत के कारण कबीर की कविताई में छंद वैविध्य उत्तरोत्तर दिखता है। उनके पदों में जगह-जगह 28 मात्राएँ, विषम पदों में 15-15 तथा सम पदों में 13-13 मात्राओं के साथ **उल्लाला छंद** मिलता है।

।ऽ ऽ।ऽ ।। ऽ।ऽ ऽऽ ऽ। ।ऽ ।ऽ
भरी छाबड़ा मन बैकुंठा, साँई सूर हिया रंगा।
।ऽ ।ऽ। ।।। ऽ ऽऽ ।। ऽ। ऽऽ ऽऽ
कहै कबीर सुनहु रे संतो, हरि हँम एकै संगा।।

काव्य शैली विधान में लय, तुक, यति, वर्ण व्यवस्था एवं वृत्तियों के संयोग से छंद का निर्माण कवि की विशिष्टता पर निर्भर है। भाँति-भाँति के छंद विधान कबीर की कविता को संप्रेषणीय बनाते हैं। उनके यहाँ 24 मात्राओं 14-10 पर यति के साथ **लोल छंद** भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ –

।।। ऽ ऽऽ। ऽऽ ।ऽ ।। ऽऽ।
भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जलपाषान।
।।। ऽ। ।ऽ। ।।ऽ ।ऽ ऽ। ।ऽ।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवान।।

लोक छंदों के प्रयोग से कबीर काव्य की गेयता, सम्प्रेषणीयता आज भी बरकरार है। यों, देखा जाए तो कबीर छंदों के प्रयोगशील कवि हैं। 32 मात्राओं 16-16 पर यति अंत में सगण (।।ऽ) के साथ **सिंह छंद** का प्रयोग कविता में गेयता का संचार करता है –

।। ऽ ऽ।ऽ ।। ऽ ।।ऽ ।। ऽ ।। ।। ।। ऽ ।।ऽ
मन मैं आँसणा मन मैं रहणाँ, मन का जप तप मन सूँ कहणाँ।
।। ऽ ।।ऽ ।। ऽ ऽऽ ।।।। ऽ। ।ऽऽ ऽऽ
मन मैं षपरा मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी।।

यहाँ प्रथम पंक्ति में एक मात्रा द्वितीय पंक्ति का प्रास बैठाने के लिए है। वैसे चारों पदों में से मात्र प्रथम पद में 17 मात्रा हैं। हमने पहले बताया है कि कबीरदास के पदों एवं साखियों में छंदों को शास्त्रीय ढंग के साथ-साथ लोकशास्त्रीय दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए। नवतर छंद प्रयोग कबीर काव्य की उपलब्धि है। **चंडिका छंद** में 26 मात्राएँ 13-13 पर यति के साथ अंत में रगण (ऽ।ऽ) होता है। उदाहरणार्थ –

ऽ। ।ऽ।। ।।। ऽ ऽ।। ।। ऽऽ। ऽ
'राम रसाइन रसिक है, अद्‌भुत गति विस्तार जी।
ऽ। ।ऽ ऽ ।। ।ऽ ऽ। ऽऽ ।ऽ। ऽ
भ्रम निसा जो गत करे, ताहि सूझै संसार जी।।

कबीरदास अपनी भावोर्मियों को काव्यात्मक स्वरूप प्रदान करते समय सहृदय का बराबर ध्यान रखते हैं। बगैर सहृदय के कविता या साहित्य मात्र का कोई अर्थ नहीं है। कबीर के यहाँ 28 मात्राएँ 14-14 पर यति और अंत में गुरु लघु (ऽ।) के साथ **कज्जल छंद** भी प्रयुक्त हुआ है –

।।। ऽऽ ।। ।ऽ। ऽऽ ऽऽ ।। ।ऽ।
पंडित माते पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि धियान।
।ऽऽ ऽऽ ।।ऽ। ।ऽ । ऽऽ ।। ऽ ऽ।
संन्यासी माते अहमेव, तपा जु माते तप के भेव।।

कबीर के शिष्य, सम्पादकों आदि ने कबीर की वाणी को छंदों, अलंकारों एवं रागों की दृष्टि से सुधारा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। कविता संगीत, राग, लय, तुक एवं यति के साथ छंद, रस अलंकार एवं ध्वनि से ओत-प्रोत होकर ही जनधर्मी एवं कालजयी बन सकती है।

कबीर के यहाँ 24 मात्राएँ 14-10 पर यति के साथ अंत में गुरु लघु (ऽ।) से युक्त **रूपमाला छंद** भी दृष्टिगत होता है –

।। ।।ऽ ।।। ऽऽ ।।। ऽ। ऽऽ
चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल बाँधा।
।ऽ। ।।। ऽऽ ।।। ऽ। ऽ। ऽऽ
धियान धनक जोगू करम, ग्याँन बाँन साँधा।।

कबीर के एक ही पद में कई छंद एवं अलंकार के प्रयोग स्थान एवं प्रहर विशेष पर गाए जाने वाले रागों के वैविध्य से उनकी लोकधर्मिता भक्ति के परिप्रेक्ष्य में सार्वभौमिक बनती है। उनकी रमैनियों में सामान्यतया चौपाई एवं दोहा छंद का प्रयोग मिलता है। उनकी रमैनी सतपदी, बड़ी, दुपदी, अटपदी, बारहपदी एवं चौपदी आदि भी हैं जिसे श्यामसुंदर दास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' में भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ –

।।ऽ ।।। । ।। ।।ऽऽ ।।ऽ।। ।। ।। । ।ऽऽ
अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई।
जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौ।।'
ऽ। ।।। ।।ऽ। ।। ।ऽ । ऽऽ ऽ।
भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु, मूकति नहीं रे मूल।।

12.3 कबीर के काव्य में काव्य रूप

कबीर में काव्यरूपों की विविधता नाथों, सिद्धों एवं हठयोगियों के कारण भी मिलती है। **बावनी में** नागरी वर्णमाला के 52 अक्षरों को लेकर (16 स्वर, 36 व्यंजन) प्रत्येक दो पंक्ति को एक वर्ण से सम्बद्ध करते हुए क्रमशः सभी वर्णों से सम्बद्ध द्विपदियाँ रची जाती हैं। कबीर की बावनी में स्वरों को छोड़ दिया गया है और व्यंजनों में भी अंतिम त्र ज्ञ को छोड़कर चौंतीस व्यंजनों को लेकर ही द्विपदियाँ बाँधी गई हैं। इस प्रकार **चौंतीसा** भी **बावनी** की पद्धति का ही काव्य रूप है। जायसी के अखरावट में इसका खूब प्रयोग मिलता है। इसे ज्ञान चौंतीसा भी कहने का प्रचलन है।

कबीर के यहाँ '**कहरा**' काव्य रूप को हुड़क बजाकर गाए जाने का प्रचलन है। इसके ताल में आठ मात्राएँ होती हैं – धा गे न ति, न क धि न । इसे कभी-कभी **दादरा** में भी गाते हैं। कुछ लोग कहरा का सम्बंध ''कहर'' से जोड़ते हैं। उन लोगों का मानना है कि संसार के जरा-मरण रूपी कहर से बचाने वाला ही **कहरा** है। उदाहरणार्थ –

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।
मेली सिस्टि चराचित राखहु, रहहु दिस्टि लौ लाई हो।
जस दुःख देखि रहहु यहि अवसर, अस सुख होइंहे पाये हो।।
जो खुटुकार बेगि नहि लागै, हिरदय निवारहु कोहू हो।
मुकुति की डोरि गाढ़ि जनि खैंचहुँ, तब बाझी बड़ रोहू हो।।
मनुवहि कहहु रहहू मन मारे, खिझुना खीझि न बोलै हो।
मानू मीत मितैयो न छाड़ै, कबहुँ गाँठि न खोंले हो।।
भोगौ भेग भुगुति जनि भूलहु, जोग जुगुति तन साधहु हो।

जो यहि भाँति करहु मतवाली, ता मत के चित बाँधहु हो।।
नाहि तौ ठाकुर है अति दारुन, करिहै चाल कुचाली हो।
बाँधि मारि डाँड़ि सभ लै हैं, छुटिहै सभ मतवाली हो।।

X X X X X

नौका अछत खैवै नहि जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो।
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो।।

राम के प्रेम में मग्न कबीर कहते हैं कि इस शरीर रूपी नौका के होते हुए भी तुम उसे खेना नहीं जानते, फिर भव-सागर कैसे पार कर सकोगे? लोकजीवन की निरर्थकता तथा वसंत ऋतु की मादकता के अंतर्विरोध को लेकर **बसंत** काव्य रूप का प्रचलन हुआ। इसी काव्य रूप के निकट **फागु** और **धमार** भी है। इसीलिए कबीर के यहाँ इसमें आध्यात्मिकता भी मिलती है। उदाहरणार्थ –

जहाँ बारह मास बसंत होय, परमारथ बूझे बिरला कोय।
बरसै अगिन अखंडधार, बन हरियर भौ अठारह भार।
पनिया अंदर धरे न कोय, पौन गहै कसमलिन धोय।
बिन तरवर फूले अकास, सिव बिरंचि तहँ लेहिं बास।
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोनिन जोय।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरन भाव।
अमर लोग फल लावै चाव, कहँहिं कबीर बूझे सो पाव।।

सद्गुरु परमात्मा प्राप्ति का सही मार्गदर्शन करता है। वही अमर फल है। उसके प्रति सच्ची भक्ति उदित हो जाती है। वहाँ नित्य वसंत रहता है। जो इस रहस्य को समझता है, वह परमानंद को प्राप्त होता है। कबीर के यहाँ **बिरहुली काव्य** रूप लोकजीवन से गृहीत है। इसीलिए इसको लेकर तरह-तरह की अटकलें विद्वानों ने लगाई हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह साँप का विष दूर करने के लिए गाया जाने वाला गीत है। किसी विद्वान ने इसका अर्थ विरही जीवन लिया है। फिलहाल 'बिरहुली' काव्य रूप मध्ययुगीन आध्यात्मिक चेतना के संदर्भ में प्रचलित है। उदाहरणार्थ –

आदि अंत नहिं होत बिरहुली, नहिं जर पल्लौ पोड़ बिरहुली।
निसु बासर नहिं होत बिरहुली, पौन पानी नहिं मूल बिरहुली।।

X X X X X

जनम जनम जम अंतर बिरहुली, फल एक कनयर डार बिरहुली।
कहँहि कबीर सचुपाव बिरहुली जो फल चाखहु मोर बिरहुली।।

कबीर के काव्य रूपों में विशदता एवं व्यापकता है। आज भी कबीर उतने ही पढ़े जाते हैं जितने मध्यकाल में। कबीर काव्य की सम्प्रेषणीयता भी लोकधर्मी है। उपरोक्त काव्य रूपों के अतिरिक्त **थिंती** काव्यरूप **तिथि** का अपभ्रंश माना जाता है प्रायः इसमें महीने के दोनों पक्षों की तिथियों का उल्लेख करते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यपरक उपदेश दिए जाते हैं। थिंती काव्य रूप के उदाहरण आदिग्रंथ में संग्रहीत कबीर वाणी में पाए जाते हैं।

12.4 कबीर के काव्य में अलंकार

मध्यकालीन परिवेश में कबीर जैसे आँखिन देखी पर विश्वास करने वाले कम कवि थे क्योंकि वैष्णव, सूफी एवं अन्य भक्ति सम्प्रदाय के प्रवाह में कवि लोग बह रहे थे। कबीर

की काव्य भाषा में सहज ढंग से अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उनके काव्य में सायास अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। श्यामसुंदर दास ने लिखा है कि 'कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं चढ़ाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोज-खोज कर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का सर्वथा अभाव है।' फिलहाल कबीर के काव्य में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के बराबर प्रयोग मिलते हैं। उनकी कई साखियों एवं पदों में दो-तीन अलंकार के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ–

एक कनक अरु कामनी, विष फल की एउ पाइ।
देखै ही थै विष चढ़ै, खांयै सूँ मरि जाइ।।

कनक (सोना और धतूरा) तथा कामिनी (नारी) को विष फल के समान बताया गया है। इनके दर्शन मात्र से विष चढ़ता है यानी मोह पाश में व्यक्ति फँसता है तथा स्वाद लेने से मनुष्य का विनाश होता है। इसलिए 'कनक' में '**श्लेष**' तथा दूसरी पंक्ति में '**चपलातिशयोक्ति**' अलंकार है। कबीर ने स्वाभावोक्ति के माध्यम से '**उपमा**' अलंकार का प्रयोग किया है। उपमेय और उपमान में तुलना कर समानता को सूचित करने वाला सर्वथा स्वाभाविक ही विधान है। उदाहरणार्थ–

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि-करि तूंड।
जाँणै बूझे कुछ नहीं, यौं ही आंधां रूंड ।।

यानी कीर्तन करने वाले कीर्तन के मर्म को उसी प्रकार नहीं समझते हैं जिस प्रकार सिर कटे योद्धा यंत्रवत् इधर-उधर अस्त्र चलाते हैं यहाँ दोनों की समानता व्यक्त की गई है। इसीलिए यहाँ 'उपमा' अलंकार है। हालाँकि कबीर यहाँ भक्ति के बाह्याडम्बर कीर्तन आदि की निरर्थकता को भी इंगित कर रहे हैं। कबीर के पदों में विभिन्न प्रकार के रागों के साथ अलंकारों का प्रयोग अच्छा लगता है। यानी भक्ति संगीत के साथ राग-रागिनी से ओत-प्रोत पद हैं। उन रागिनियों में अलंकारों का यथा योग्य प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ–

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दस गँठिया, टेढ़ौ-टेढ़ौ जात ।। टेक ।।
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात ।
दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूं बनि हरियल पात ।।
राज भयौ गाँव सौ पाये, टका लाख दस वात ।
रावन होत लंका को छत्रपति, पल मैं गई बिहात ।।
माता पिता लोक सुत बनिता, अंत न चलै सँगात।
कहै कबीर राम भजि बांरे, जनम अकारथ जात ।।

इस पद में तृतीय प्रहर में गाया जाने वाला राग धनाश्री है। अवरोह में 'पग' स्वर संगति श्रुति मधुर है। 'ज्यूँ बनि हरियल पात' में **उपमा** अलंकार तथा 'रावन होत लंका को 'छत्रपति' में **दृष्टांत अलंकार** है। एक ही पद में कई अलंकारों के प्रयोग से कबीर की लोक एवं शास्त्र की बहुज्ञता का पता चलता है।

कबीर काव्यशास्त्र के अध्येता भले ही न हों, परंतु लोकशास्त्र के पारखी थे। इसीलिए **सांग रूपक अलंकार** का व्यवस्थित एवं शास्त्रीय प्रयोग अपने पदों में करते हैं। भले ही भक्ति के आवरण में इस अलंकार का प्रयोग हुआ हो परंतु इसका सौंदर्य अदभुत है। उदाहरणार्थ –

संतौ भाई आई ग्याँन की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाँनी, माया रहै न बाँधी ।। टेक ।।
हिति चित की द्वै थूँनी गिराँनी, मोह बलिंडा तूटा।
त्रिस्नाँ छाँनि परि घर उपरि, कुबधि का भाँडाँ फूटा ।।
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवे न पाएँगे।।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाएँगे।
आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भींनाँ।
कहै कबीर भाँन के प्रगटे उदति भया तमं षीनाँ।।

इस पद में उपमान के सभी अंगों का आरोप उपमेय पर है। इसलिए इस पद में सांग रूपक अलंकार है। इस पद में सायंकालीन गेय राग गौरी है। संगीत रत्नाकर में गौरी राग का प्रचार था।

राग गौरी की रागिनियों के अनुस्यूत पद अलंकारों की छटा से भी विभूषित हैं। हालाँकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल केशव को कठिन काव्य का प्रेत मानते हैं। कबीर ने अपनी सधुक्कड़ी–खिचड़ी भाषा में भक्ति पदों को संजोया है। इसीलिए एक ही पद में दृष्टांत, वक्रोक्ति एवं विशेषोक्ति तीन अलंकारों का सहज ही प्रयोग दिखाई देता है:

मन रे मन ही उलटि समाँना।
गुर प्रसादि अकलि भई तोकौं नहीं तर था वेगाँनाँ ।। टेक।।
नेड़ै थैं दूरि दूरि भैं नियरा, जिनि पीया तिनि माना।।
औ लौ ठीका चढ्या वलीडै, ताहि खोजि वैरागी।।
उलटे पवन चक्र षट वेधा, सुनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि वैरागी।।
अनभै कथा कवन सी कहिये, है कोई चतुर विवेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सौ झल बिरलै देखी।।

'औ लौ ठीका चढ़्या वलीडै' में दृष्टांत अलंकार उपमेय और उपमान सम्बंधी दो वाक्यों की धर्म भिन्नता पर भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब से समानता है। इसी प्रकार 'है कोई चतुर विवेका' में वक्रोक्ति अलंकार जहाँ किसी विशेष अभिप्राय से कथित वाक्य का चातुरी से अन्य अर्थ लिया जाए। कबीरदास जी कहते हैं कि उस परमतत्व का वर्णन मैं किससे करूँ? कोई बिरला विवेकी ही उसे समझ सकता है। 'सौ झल बिरलै देखी' में विशेषोक्ति अलंकार की छटा द्रष्टव्य है। यहाँ कारण के रहते हुए भी कार्य नहीं हो रहा है। इसीलिए यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है। यहाँ गुरु ज्ञान का पलीता लगा रहा है अर्थात दीक्षा दे रहा है। लेकिन उसकी ज्योति का अनुभव बिरले लोग ही कर रहे हैं। भक्ति के आवरण में चित्रित अलंकार कबीर काव्य के अर्थ सौष्ठव को ही बढ़ा रहे हैं।

कबीर की काव्यभाषा लोकसम्वेदनाओं को इस तरह संजोये हुए है कि अलंकारों, छंदों एवं रसों का प्रयोग होने पर भी सम्प्रेषणीयता का सवाल नहीं उठता है। यानी अलंकार भी कबीर के यहाँ लोकभाषा एवं काव्य-भाषा में घुलमिल गए हैं। **निदर्शना अलंकार** का प्रयोग लोकाभिव्यक्ति के लिए कबीर ने किया है। उदाहरणार्थ –

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करे, सो तैसे फल खाइ।।

यों, देखा जाए तो भिन्नता रहते हुए भी जहाँ दो वाक्य समता सूचक भाव के आरोप से समानार्थी से जान पड़ें, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। इसीलिए मन की समानता पक्षी से की गई है। भक्ति के आवरण में यह सम्भव है। इसीलिए कबीर ने काव्यभाषा को विविध लोकानुभवों से समृद्ध बनाया है। कबीर के यहाँ अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ –

कागद केरी नाँव री, पाँसी केरी गंग।
कहैं कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग।।

जहाँ अप्रस्तुत का कथन करके प्रस्तुत का बोध कराया जाए। इस अलंकार में कोई बात कही तो किसी विशेष व्यक्ति के लिए जाती है किंतु डाली जाती है किसी अन्य विशेष व्यक्ति पर। इसीलिए गंग को भवसागर का प्रतीक कहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ एवं मोह वाले पाँच दुर्जन कागज की नाव से इस भव सागर से कैसे पार उतारेंगे? इसीलिए भक्ति के आवरण में अन्योक्ति अलंकार का इस तरह प्रयोग कबीर की काव्यभाषा को समृद्ध बनाते हैं।

कबीर के लिए भक्ति एवं मानव धर्म सर्वोपरि है, अलंकार नहीं। फिर भी उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग काव्यभाषा में घुलमिल कर आ रहा है। जहाँ दो वस्तुओं या पदार्थों (बातों) में पारस्परिक विरोध सा दिखायी पड़े, किंतु वास्तव में यह विरोध भाव सर्वथा अभीष्ट रूप में वहाँ चरितार्थ न हो, वरन उस विरोध के आभास से चमत्कार चारुता बढ़ती हो, वहाँ **विरोधाभास अलंकार** होता है। उदाहरणार्थ –

कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बँधावएगाँ, तिहि धरि तिता अँदोह।।

कबीरदास जी कहते हैं कि सांसारिक माया मोह व्यर्थ है। जिस घर में जितना उत्सव मनाया जाता है उस घर में उतना ही अवसाद का भी अनुभव होता है। यानी सुख-दुःख के व्यामोह से लोग उबर नहीं पाते हैं। जबकि शाश्वत आनंद माया से परे है। इसीलिए यहाँ दूसरी पंक्ति में **विरोधाभास अलंकार** है।

कबीर के काव्यभाषा की सम्प्रेषणीयता लोकाधारित शब्दों के सहज चयन के कारण है। यह बात अलग है कि उनमें बीच-बीच में रस, छंद एवं अलंकार का सहज निदर्शन भी हो रहा है। कबीरदास के यहाँ **उत्प्रेक्षा अलंकार** भी द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ –

साषत बाँभण मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानों मिले गोपाल।।

कबीर का लोकशास्त्र ज्ञान व्यापक, गम्भीर एवं तद्युगीन है। इसीलिए उस युग में प्रचलित व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग कबीर के काव्य में मिलता है। जहाँ उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ विशेषता या उपमान की न्यूनता दिखायी जाए, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। उदाहरणार्थ –

जाकै मह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला ऐसा तत अनूप।।

निर्गुण ब्रहम के न मुख है, न सिर है, जो न रूपवान, है न कुरूप बल्कि पुष्प वास से भी अधिक सूक्ष्म है वही अनुपम तत्व ही प्रभु है। कबीर अपनी काव्यभाषा को सर्वसुलभ बनाने के साथ आलंकारिक भी बनाते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर को भाषा का डिक्टेटर कहते हैं। इसीलिए अनुभव साँचा को काव्यभाषा में ढालते समय एक ही पद में कई अलंकारों का यों ही प्रयोग मिलता है। उनके पदों में राग-रागिनियों की छटा तो निराली है ही राग गौरी में कबीर का पद द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ –

बोलानाँ का कहिये रे माई
बोलत बोलत तत नसाई ।। टेक ।।
बोलत-बोलत बढ़ै बिकारा, बिन बोल्याँ क्याँ होइ बिचारा।।
संत मिलै कछु कहिये, मिले असंत मुष्टि करि रहिये।।
ग्यानी सूँ बोल्या हितकारी, मूरिख सूँ बोल्याँ झष मारी।।
कहै कबीर आधा घट डोलै, भर्‌या होइ तो मुषाँ न बौलै।।

यहाँ पर 'बोलत-बोलत' में **पुनरुक्ति प्रकाश** तथा अंतिम पंक्ति में **लोकोक्ति** एवं **दृष्टांत अलंकार** है। यानी मूर्खों से दूर रहना चाहिए। वही लोग ज्यादा बकवास करते हैं जिन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। अधजल घट के आवाज करने के समान है जबकि पूर्ण घट कभी आवाज नहीं करता है। ऐसे ही जो पूर्ण ज्ञानी हैं वे व्यर्थ की बकवास नहीं करते हैं।

कबीर की भाव–चेतना मध्यकालीन परिवेश के ताने-बाने से बुनी होने पर भी प्रगतिशील चेतना की परिचायक है। ज्ञानाश्रयी संत कवि कबीर लोकजीवन की तमाम आपाधापियों में अपनी काव्यभाषा को सम्वेदना का कलेवर प्रदान करते हैं। इसीलिए बीच-बीच में मानवीकरण एवं **विरोधाभास** अलंकार का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ –

अवधू ऐसा ग्याँन बिचारी, ताथै भई पुरिष थै नारी।। टेक।।
ना हूँ परनी नाँ हूँ क्वारी, पूत जन्यूँ द्यौ हारी।
काली मूँड को एक न छोड़्यो, अजहूँ अकन कुवारी।।
बाम्हन के बम्हनेटी कहियौ, जोगी के धरि चेली।
कलमाँ पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी, अजहूँ फिरौ अकेली।।
पीहरि जाँऊँ न सासुरै, पुरषहिं अंगि न लाँऊँ।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहिं अँग न छुवाँऊँ।।

लोकजीवन की उपलब्धियों एवं सीमाओं को जानता हुआ भी व्यक्ति सांसारिक फरेबों में फँसता जाता है। ब्रह्म, जीव एवं जगत में मुख्य भूमिका माया की है। योगी, जती एवं संन्यासी भी माया के वशीभूत हो जाते हैं। यानी माया विवाहित नहीं है फिर भी जीवों के आविर्भाव का कारण है। यानी माया ब्रह्म की शक्ति मात्र है। इसीलिए माया बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मणों की पत्नी बनती है, योगियों की चेलिन बनती है और यद्यपि उसे बचपन से ही कलमा पढ़ाया जाता है, फिर भी अपनी आकर्षण शक्ति से बड़े-बड़े मौलवियों की पत्नी बनती है। माया हर युग में परिस्थितियों के अनुसार वैश्वीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण का रूप ग्रहण कर रही है। इसीलिए समग्र पद में **मानवीकरण** तथा 'काली मूँड को एक न छोड़यौ, अजहूँ अकन कुवारी' में **विरोधाभास** अलंकार है। समग्र पद में विद्या माया का गुणगान एवं जगत, ब्रह्म, जीवन की सच्चाई उद्‌घाटित करते हुए जीव को मध्यम मार्ग अपनाने की सलाह दी गई है। राग आसावरी की गेयता पाठक को आकर्षित करती है।

कबीरदास एक ही बात को बार-बार दुहराते हैं। इसीलिए रोचकता का सवाल खड़ा होता है। मृगमरीचिका मय संसार सतत परिवर्तनशील है। कबीर के पदों का पारायण (पढ़ने से) करने से एक अलग लोकातीत संसार का चित्र सामने आता है। उदाहरणार्थ –

अवधू ऐसा ग्यांन बिचार,
भेरै चढ़ै सु अध धर डूबै निराधार भये पार ।। टेक ।।
ऊघट चले सु नगरि पहूँचे, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाँने, के बाँधे के छूटे।।
मंदिर पैसि चहुँ दिसि भीगे, बाहरि रहेते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा।।
बिन नैनन के सब जग देखै, **लोचन अछते अंधा।**
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या अंधा।।

बिना सद्गुरु के इस भवसागर से पार करने वाला कोई नहीं है। कबीरदास का मानना है कि सांसारिक प्रपंचों से अपने को दूर रखना नितांत आवश्यक है। अच्छे गुरुओं की दीर्घ दृष्टि की छत्रछाया सांसारिक को भवसागर से पार कराती है। 'ऊघट चले सु नगरि पहुँचे, बाट चले ते लूटे' में **विरोधाभास**, 'सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा' में **विभावना** तथा 'लोचन अछते अंधा' में **विशेषोक्ति** अलंकार है। इस पद में राग रामकली का ताना-बाना काफी अच्छा है। यानी प्रपंच मय संसार से जीव को दूर रहना चाहिए। एक ही पद में कई अलंकारों का प्रयोग सहजता से करके कबीर अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करते हैं। कबीर की काव्यप्रतिभा लोकधर्मी है।

मध्ययुगीन परिवेश के तहत संगीत, छंद, अलंकार एवं रस के बगैर कविता का कोई महत्व नहीं है। कबीरदास ने काव्यशास्त्र का भले ही अध्ययन न किया हो परंतु लोकशास्त्र के जबर्दस्त अध्येता हैं। सामान्यतया कबीर ग्रंथावली के सभी सम्पादकों ने प्रमुख अलंकारों का निरूपण किया है। डॉ. रामचंद्र तिवारी के अनुसार, 'डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने स्व संपादित ग्रंथावली के परिशिष्ट में कबीर द्वारा समरूप अलंकारों का निर्देश कर दिया है। इसमें उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, दृष्टांत, विरोधाभास का उल्लेख बार-बार हुआ है।' कबीरदास अर्थांतरन्यास, विभावना, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, उल्लेख, दृष्टांत एवं विशेषोक्ति की शास्त्रीय परिभाषाओं से भले ही परिचित न हों, परन्तु तत्युगीन भक्ति संगीत का जबर्दस्त प्रभाव लोकशास्त्र के माध्यम से उनकी अलंकार धर्मिता को पुष्ट करता है इसीलिए उनकी उलटबाँसियों में असंगत एवं विभावना अलंकार देखने को मिलता है।

कबीर के यहाँ राग भैरव, सोरठ, बसंत, धनाश्री, बिलावल, बिहागड़ा, काफी, केदार, कल्याण, कानरो, मलाह, मारू एवं सारंग का प्रयोग उनकी यामावरीय प्रवृत्ति एवं लोकधर्मी चेतना की द्योतक है। विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग समय में गाए जाने वाले उपरोक्त राग वैविध्य में अद्वैत एवं संगीत की अनुगूँज है। यानी द्वैत से अद्वैत के ऊर्ध्वागमन के प्रतीक ये राग हैं। इन्हीं रागों में अलंकार वैविध्य का सहज निरूपण कबीर की कविताई में मिलता है। कुछ आलोचक कबीर के काव्य को शुष्क बताते हैं, परंतु राग-रागिनियों, अलंकारों, रसों एवं छंदों की दृष्टि से उनका मूल्यांकन अपेक्षित है। कबीरदास काल सापेक्ष एवं निरपेक्ष साखियों एवं पदों का इस तरह से आलंकारिक वर्णन करते हैं कि तद्युगीन एवं समकालीन विडम्बनाएँ बिम्बित होने लगती हैं। उदाहरणार्थ –

पंडित माते पढ़ि पुराँन, जोगी माते धरि धियाँन।
संन्यासी माते अहंमेव, जपा जु माते तप के भेव।।

कबीर की उलटबाँसियों में विभावना एवं असंगत अलंकारों का प्रयोग है परंतु सहृदय उनके भी अर्थ ग्रहण में परेशानी नहीं महसूस करते हैं। कबीर की बहुश्रुतता, बहुज्ञता एवं

लोकधर्मी काव्य परम्परा का निदर्शन उनकी कविताई से ही मिलता है। कबीर की कविता अलंकारों से आभूषित होते हुए भी कालनिरपेक्ष एवं कालजयी है। इसीलिए कबीर की काव्यभाषा आँखिन देखी पर अवलम्बित होने के कारण अलंकारिक न हो परंतु अर्थ गर्भिता में बेशुमार है। कबीर के काव्यों में अलंकार योजना सुनियोजित नहीं बल्कि प्रकृति प्रदत्त है। इसीलिए कहीं-कहीं कहावतों एवं मुहावरों का काव्यात्मक प्रयोग अच्छा लगता है।

जनकविता के पक्षधर कबीर की कविताई जनधर्मी होने के कारण युगयुगांतर तक कवियों, सहृदयों एवं आलोचकों की अगुआई करेगी। काव्यशास्त्रीय ढंग से विचार करने वाले आलोचकों को बार-बार कबीर से टकराना होगा क्योंकि लोक एवं शास्त्र के अन्तराल को समझे बिना कबीर के रस, छंद, अलंकार, ध्वनि एवं वक्रोक्ति को नहीं समझा जा सकता है। इसीलिए कबीर काव्य में प्रयुक्त अलंकारों को लोकशास्त्र की दृष्टि से देखा जाए तो अच्छा होगा। वैसे भी कबीर किसी आलोचक या सहृदय से यह अपेक्षा नहीं रखते हैं कि उनके काव्य को पढ़ें। फिर भी वैश्वीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण के युग में कबीर विविध दृटिकोंणों से पढ़े जा रहे हैं। कोई भी कविता यदि लोकधर्मी काव्य-भाषा में नहीं लिखी जाएगी तो केशवदास की कठिन कविता की तरह पाठकों से दूर हो जाएगी। कबीर का काव्य लोकजीवन के मानस रूपी कागज पर लिखा है, वहाँ पांडुलिपि या किताब देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कबीर काव्य में प्रयुक्त लोक संगीत, राग, सहज अलंकारिक भाषा अपेक्षित रसों से ओत-प्रोत होकर आज भी पाठकों को आकर्षित करती है। काव्य विधा के सामने आज सम्प्रेषणीयता का संकट है। इसीलिए कबीर, निराला, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, धूमिल एवं गोरख पांडेय की कविताई को लोग ज्यादा पसंद करते हैं। कबीर के यहाँ रस, छंद, अलंकार, संगीत एवं राग काव्य साधन हैं। उनका काव्य साध्य भक्ति के आवरण में मनुष्य है। सभी काव्यशास्त्रीय अंग उपांग मनुष्य के लिए हैं। कबीर का काव्य 'कला कला के लिए' का पोषक नहीं है। उदाहरणार्थ –

हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी केस जलैं ज्यूँ घास।
सबतन जलता देखि करि, भया कबीर उदास।।

स्वभावोक्ति में **उपमा अलंकार** का प्रयोग लौकिक संसार की नश्वरता को ही इंगित करता है। लौकिक संसारी प्रपंचों से परिचित होने पर भी व्यक्ति तरह-तरह के हथकंडे अपना रहा है।

कबीर का मानना है कि मथुरा, द्वारिका या जगन्नाथपुरी की यात्रा के बजाय साधु संगति एवं हरि भक्ति अपेक्षित है। कबीरदास का साधु इस प्रकार है :

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाइ।।

लोकजीवन से उदाहरण देकर साधु के स्वभाव को निरूपित करते हैं। भले ही यहाँ **उदाहरण** अलंकार सहज ही आ गया है। कबीर की सहजता जगजाहिर है।

कबीर की उलटबाँसी में असंगति एवं विरोधाभास अलंकारों का प्रयोग अवश्य मिलता है। उनकी उलटबाँसी का लोकजीवन के विपरीत अर्थ होते हुए भी मर्म को समझने के बाद अर्थ का लालित्य खुलता है। असंगति अलंकार की छटा कबीर की उलटबाँसियाँ निरूपित हुई हैं। उदाहरणार्थ –

अगनि जू लागि नीर में, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे विचारि बिचारि।।

सच्ची निवृत्ति होने से आग पानी में लगती है तथा पानी का कीचड़ माया मोह आदि जल जाते हैं। इसीलिए चारों दिशाओं के पंडित सोच में पड़ जाते हैं। यों, देखा जाय तो कबीर के समय में एवं आज भी सारा कमाल प्रवृत्ति-निवृत्त या प्रेम-श्रेय का ही है। व्यक्ति विशेष किसको अपनाता है? यह महत्व का है। इसीलिए यहाँ **असंगति अलंकार** है। यहाँ असंगति शब्दों के प्रयोग होने से अर्थ में विक्षेप उत्पन्न होने के बजाय लालित्य उत्पन्न होता है।

कबीर के यहाँ अलंकार वैविध्य को देखकर काव्यशास्त्री ही नहीं आज के आलोचक भी ऊहापोह करेंगे। फिलहाल कबीर की काव्य सम्वेदना काव्यभाषा को अनुभव तंतु से जोड़कर रखती है। इसीलिए गूढ़ से गूढ़ ब्रह्म को भी लौकिक से अलौकिक तक की ऊर्ध्व यात्रा काव्यभाषा में कराते हैं। उदाहरणार्थ –

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरि बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।

कबीर के यहाँ नाम, रूप, लीला, धाम के स्मरण मात्र से आत्मा परमात्मा में लीन हो रहा है। जबकि विविध सम्प्रदाय वाले आज नाना प्रकार के बाह्याडम्बर जोड़कर बैठे हैं फिर भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो रही है। जबकि कबीरदास तादात्म्य का अनुभव काव्यभाषा में **तद्गुण अलंकार** के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं। कबीर की उक्तियाँ लौकिक से अलौकिक का तादात्म्य कराने में काफी सक्षम हैं।

कबीर की काव्यभाषा लोक सम्प्रेषित होने के साथ बाह्याडम्बरों का विरोध एवं उसकी निरर्थकता को भी अभिव्यक्त करती है। उदाहरणार्थ –

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ।।

कबीरदास किताबी ज्ञान की निरर्थकता को भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए आत्मज्ञान यानी ब्रह्म दर्शन पर विशेष जोर देते हैं। यानी निर्गुण निरवयव ब्रह्म का एक अक्षर भी जानने वाला ज्ञानी हो जाता है। कबीरदास ने जाने-अनजाने यहाँ **उल्लास अलंकार** का प्रयोग किया है। कबीर काव्य की सम्वेदना आलंकारिक काव्यभाषा में सहज ही प्रस्फुटित हुई है। लोकजीवन के यथार्थ अनुभव को काव्यभाषा में तराशना कबीर की अपनी उपलब्धि है। उदाहरणार्थ –

जैसी मुख तें नीकसै, तैसी चालै नाहिं।
मानुष नहीं ते स्वान गति, बाँध्या जमपुर जाँहि।।

कबीर के समय और समकालीन लोगों की कथनी-करनी में सामंजस्य नहीं है। इसीलिए उनकी गति भौंकते हुए कुत्ते के समान है। इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। वे अपने कर्मों के द्वारा बँधे हुए कालग्रस्त होंगे। इस साखी में कबीर **अपह्नुति अलंकार** के माध्यम से जग सचाई की बात करते हैं।

12.5 सारांश

काव्य, छंद तथा राग अन्योन्याश्रित हैं। भरत से पंडित राज जगन्नाथ तक की परम्परा में पिंगल का भी अपना योगदान है। यह बात अलग है कि 1916-18 ई. के आस-पास मुक्त

छंद का प्रयोग हिन्दी में शुरू हुआ। मध्ययुगीन काव्यरूपों को सोदाहरण देखकर ऐसा लगता है कि जन चित्तवृत्ति तक कविता को ले जाना हो तो छंद आवश्यक हैं। हालाँकि कबीर के काव्यरूप सहज एवं प्राकृतिक हैं। भारतीय साहित्य में उत्तर आधुनिकता भाषिक एवं शास्त्रीय स्तर पर बराबर मिलती है। यह बात अलग है कि उत्तर आधुनिक नाम पाश्चात्य साहित्यकारों ने दिया। वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से चलकर काव्य रूप आज भी कविता में प्रयुक्त हो रहे हैं। इस इकाई में कबीर के काव्य रूप की चर्चा करते हुए कविता की सम्प्रेषणीयता पर भी विचार किया गया है। लोकजीवन की वाणी छंद में ही बसती है। कबीर के यहाँ विविध काव्य रूपों के साथ नाद तत्व भी सुरक्षित है। यही कारण है कि देश के कोने-कोने के लोग कबीर को अपना मानते हैं। काव्य रूप, वर्ण, वृत्ति, भाषा एवं काव्यांग का चारुत्व ही कबीर काव्य की सम्प्रेषणीयता का मूलाधार है। भक्तिकाल में तद्युगीन वाद्यों का भी उपयोग किया जाता था। कबीर उनके ध्वनि भेदों से भी परिचित थे। भक्तिकाल में लय, तुक, यति, नाद एवं काव्यांगों आदि से काव्यभाषा सम्प्रेषणीय होकर लोक कंठहार बन गयी। कबीर की काव्य उपलब्धि पर द्विवेदी का मत है कि 'कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखंड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में आसाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं।' कबीर के काव्य रूप उनकी यायावरीय प्रवृत्ति एवं लोक सम्पृक्ति के द्योतक हैं।

कबीर की सचोट काव्यभाषा आलंकारिक कलेवर ग्रहण करने के साथ लोकजीवन की विभिन्न आपाधापियों एवं सम्वेदनाओं को व्यक्त करने में सक्षम है। मध्यकालीन कवि कबीर की सोच जनधर्मी एवं लोकधर्मी है। आलंकारिक काव्यभाषा सपाटबयानी में आ गई हो तो कबीर की उपलब्धि कही जाएगी। कबीर काव्य में अलंकारों का वर्णन करते हुए कबीर की काव्यशास्त्रीय दृष्टि का पता चलता है। हालाँकि इतिहासकार एवं आलोचक कबीर को 'मसि कागद छूओ नहीं' ही मानते हैं। कबीर ग्रंथावली के कितने अंश प्रक्षिप्त हैं। आज भी इस पर कार्य हो रहा है। फिलहाल मध्यकालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी संत कबीर की काव्यभाषा रस, छंद, अलंकार, ध्वनि एवं वक्रोक्ति को काव्य सम्वेदना के क्षण विशेष पर ग्रहण करती है। इसीलिए समकालीन परिवेश में कबीर की कविताई अक्षुण्ण है।

12.6 अभ्यास प्रश्न

1. काव्य भाषा, छंद एवं अलंकार का अंतसम्बंध स्पष्ट करते हुए कबीर की कविता में उनकी अन्योन्याश्रिता पर प्रकाश डालिए।
2. कबीर की कविता में छंदों के निर्वहन और उनके महत्व की चर्चा कीजिए।
3. कबीर की कविता में अलंकारों का प्रयोग उनके काव्य मंतव्य को व्याख्यायित करने में कितना सहायक सिद्ध हुआ है, विवेचन कीजिए।

इकाई 13 कबीर की कविता में व्यंग्य

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 कबीर की मूल दार्शनिक मान्यताएँ

13.3 सहज तथ्य कथन के भीतर व्यंग्य

13.4 जीवन ज्ञान से उत्पन्न व्यंग्य

13.5 आक्रामक व्यंग्य

13.6 सारांश

13.7 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

यह इकाई कबीर की कविता में निहित व्यंग्य पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- कबीर की कविता में व्यंग्य की विभिन्न अवस्थाओं का परिचय दे सकेंगे;
- कबीर के काव्य में जीवन ज्ञान से उत्पन्न व्यंग्य को स्पष्ट कर सकेंगे; और
- कबीर के काव्य में व्यक्त आक्रामक व्यंग्य को विश्लेषित कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

कबीरदास निर्गुण काव्यधारा के सबसे प्रखर कवि माने जाते हैं। उन्होंने अपनी कविता में ईश्वर के निर्गुण रूप की आराधना का उपदेश दिया तथा अपने से भिन्न मत के सभी चिंतकों, विचारकों और सम्प्रदायों की आलोचना की। कबीरदास जब अपने विरोधी के मत का खंडन करते हैं, तब वे परम ओजस्वी रूप में दिखाई देते हैं। कबीर का व्यंग्य उनके इस खंडन में दिखाई देता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कबीर सिर्फ खंडन ही नहीं करते, मंडन भी करते हैं। वे अपने मत का समर्थन भी करते हैं। इसके साथ ही कबीर अपने मत के समर्थन के प्रकरण में दूसरे मतों या विचारों का खंडन भी करते चलते हैं। लेकिन उनका प्राथमिक लक्ष्य अपने मत का समर्थन करना ही लक्षित होता है।

कबीर मानते हैं कि उनका सिद्धांत जटिल है। अतः उसे उदाहरणों के द्वारा समझाना जरूरी है। इस समझाने में श्रोताओं के जीवनानुभवों का ध्यान भी रखना होता है। इस कारण वे लौकिक अनुभवों के द्वारा आध्यात्मिक रहस्य को बताते चलते हैं। जब वे अपने मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं तब उनकी कविता में एक विशेष प्रकार की सपाट बयानी मिलती है। अतः कबीर के व्यंग्य की प्रकृति को समझने के लिए उनके मन को जानना जरूरी है। उनका यह व्यंग्य उनकी दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है। खंड 2 की इकाई 6 एवं 7 में कबीर के दार्शनिक विचारों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। यहां हम कुछ प्रमुख बिन्दुओं की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

13.2 कबीर की मूल दार्शनिक मान्यताएँ

कबीर के चिंतन के प्रस्थान बिंदु की यह मान्यता है कि सिर्फ ईश्वर ही सत्य है। उस ईश्वर का न रूप है, न रंग है, न वह हल्का है न भारी है। कबीर यह भी मानते हैं कि वह (ईश्वर) जैसा है उसे बताने का सामर्थ्य भी उनमें नहीं है –

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जांणों राम कूं, नैनूं कबहुं न दीठ।।

इसलिए उस राम का स्वरूप कबीर के समक्ष स्पष्ट नहीं है। उनका मानना है कि उसकी कोई भूमि नहीं है। उसके रहने का कोई घर (मंदिर) नहीं है। वह तो हमारे मन में ही (घट में ही) बसा हुआ है। हम उसे जान नहीं पाते। गुरु के उपदेश से हम उसे पहचान सकते हैं। गुरु ही हमें ज्ञान देता है। गुरु ही ईश्वर से मिलने का रास्ता दिखाता है।

कबीर 'जगत' की व्याख्या करते हैं। उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि यह जगत जो हमें दिखाई देता है वह माया है। कबीर इसे मिथ्या नहीं कहते अपितु माया कहते हैं। जिसका एक अर्थ यह भी होता है कि हमें यह सत्य प्रतीत होता है। सत्य का इसमें आभास होता है, परंतु यह सत्य नहीं है। माया कबीर की कविताओं में एक पात्र है। वही त्रिगुण को फँसाने वाली, जीव को भरमाने और भटकाने वाली है। यह माया कभी मरती नहीं –

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णाँ नाँ मुई, यौं कहि गया कबीर।।

इस माया की अनेक गतिविधियों का वर्णन कबीर ने अपनी कविताओं में किया है। इससे बचने का रास्ता गुरु बता पाता है।

कबीर दास गुरु और ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि मैं तो लोक और वेद के साथ उनका अनुकरण करते हुए चल रहा था। जब थोड़ा आगे बढ़ा तो मुझे सतगुरु मिले। उन्होंने मुझे दीपक थमा दिया। यह दीपक ज्ञान का दीपक था, जिसके प्रकाश से मैं स्वयं रास्ता देख सकता था। अब मुझे लोक और वेद की जरूरत नहीं रही। इसी से मैं लोक और वेद से स्वतंत्र हो गया –

पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगै थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि।।

कबीर ने गुरु के स्वरूप और महिमा का बखान किया है। ज्ञानहीन गुरु को फटकार लगाई है परन्तु गुरु का महत्व वे बराबर मानते हैं। यहाँ तक कि गुरु को गोविंद से भी श्रेष्ठ मानते हैं–

गुरु गोविंद तो एक हैं, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार।।

कबीरदास मानते हैं कि यह नर की देह अमूल्य है। जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ मानव का शरीर प्राप्त करता है। इस जीवन में प्रभु का सुमिरण करने से जीव को मुक्ति मिल सकती है और उसका परमात्मा से मिलन हो सकता है। इसलिए इस जन्म को निरर्थक खोना नहीं चाहिए, सार्थक जीवन जीना चाहिए।

नर देही बहुरि न पाईये, ताथैं हरषि गुँण गाईये।। टेक।।
जब मन नहीं तजै बिकारा, तौ क्यूँ तरिये भौ पारा।

इसलिए कबीर उपदेश देते हैं और अपने मत को स्थापित करते हैं। कबीर अपने वक्तव्य को उदाहरणों के द्वारा समझाते हैं, इसे समझाने में वे जीवन के अनुभव का उपयोग करते हैं। लौकिक अनुभवों के द्वारा आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट करते हैं। यहाँ कभी-कभी ऐसा लगता है मानो कवि एक तथ्य कथन कह रहा है और यह ऐसा सामान्य तथ्य है जिसे सब जानते भी हैं और मानते भी हैं। यहाँ किसी से कोई बहस या द्वंद्व नहीं है, कबीर कहते हैं–

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।।

यहाँ कबीर अपना अनुभव और अनुभव के निष्कर्ष बता रहे हैं। वे श्रोता या पाठक के साथ संवाद की स्थिति में हैं। यह संवाद सहज है। जो कवि मानता है, वही पाठक या श्रोता भी मान लेगा, इस विश्वास से यह कविता पैदा हुई है। हालाँकि यह अनुभव और उसकी प्रक्रिया सहज नहीं है इसलिए कहा जा सकता है कि अनुभव की अद्वितीयता के बावजूद कबीर की अपनी कथन भंगिमा एकदम सीधी और तथ्यात्मक है। इसमें जटिलता यदि कहीं है तो अनुभव में है। अभिव्यक्ति में कोई जटिलता नहीं है। वैसे भी कबीर की अभिव्यक्ति में अस्पष्टता कहीं भी नहीं है। कबीर निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद कविता करते हैं। वे जानते हैं कि वे क्या कहना चाहते हैं? जितना कहना चाहते हैं, उतना ही अभिव्यक्त करते हैं। कबीर के मंतव्य की अभिव्यक्ति करने में उनकी कविता पूरी तरह सशक्त है।

हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलैं ज्यूँ घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास।।

इन पंक्तियों का मंतव्य एकदम स्पष्ट है। मृत्यु के पश्चात मनुष्य की हड्डियाँ लकड़ी की तरह जलने लगती है और केश घास की तरह जलते हैं। इस तरह सारे शरीर को जलता देखकर कबीर उदास हो गया है। अब यह उदासी क्यों है ? कैसी है ? कैसे दूर होगी? इन पंक्तियों का निहितार्थ कितना दूर तक जाता है ? यह सरल नहीं है। आगे की सारी प्रक्रिया पेचीदा है। कबीर उनके बारे में यहाँ कुछ नहीं कहते। यहाँ बड़ी सरल-सी प्रतीत होने वाली बात कहते हैं। कथन आसानी से समझ में आ जाता है। हालाँकि अर्थ ग्रहण करने के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ती है। इस सरलता का कारण यह है कि कबीर अपने मत को व्यक्त कर रहे होते हैं। उन्हें अपने पाठकों को, अपने समर्थकों को अपना अनुभव साझा करना होता है। कबीर बिना किसी दुराव-छिपाव के अपना सारा ज्ञान बता देते हैं। ये उनके जीवन ज्ञान के निष्कर्ष हैं। इस ज्ञान के अनुसार वे आचरण भी करते हैं।

13.3 सहज तथ्य कथन के भीतर व्यंग्य

कबीर के काव्य में ज्ञान के विरोध में आने वाली बातों का विरोध दिखाई देता है। कबीर बहस करते हैं विरोधी पर चोट करते हैं। उसका मखौल उड़ाते हैं, डाँटते-फटकारते हैं और इन सब प्रक्रियाओं में वे व्यंग्य का प्रयोग करते हैं लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि वे यह सब किसी को परास्त करने का सुख लेने के लिए नहीं करते। अपितु अपने मत को स्थापित करने के लिए विरोधी मत का खंडन आवश्यक होने के कारण ऐसा करते हैं। जरूरी है इसलिए वे ऐसा करते हैं। कबीर जब अपने विरोधी के विचारों का खंडन करते हैं तब उनकी कविता की चमक बढ़ जाती है। विरोधी मत का खंडन करने के लिए कबीर हमेशा उग्र नहीं होते, हमेशा व्यंग्य नहीं करते अर्थात व्यंग्य उनकी स्थायी मनोवृत्ति नहीं है। वे बहुत सरल तरीके से भी किसी के मत का खंडन कर सकते हैं। यहाँ वे कोई तर्क नहीं देते, सिर्फ अपनी असहमति दर्ज कर देते हैं। किसी की सहमति या असहमति की उन्हें चिंता नहीं हैं। कबीर किसी की सहमति का प्रतीक्षा नहीं करते और कहते हैं –

जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधा अंधे ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत।।

कबीर ने कहा कि जब गुरु अंधा (ज्ञानहीन) है और चेला दृष्टिहीन (अज्ञानी) है तब कौन किसको मार्ग दिखा सकेगा। विवशतावश वे दोनों तो एक-दूसरे को ठेलते हैं और अंततः कुँए में गिर जाते हैं। कबीर मानते हैं कि यह तो होना ही था। इसमें क्या सहानुभूति ? ऐसे नासमझों का यही हाल होगा। इस संदर्भ में एक पीड़ा है, लेकिन कबीर की कविता यह पीड़ा पैदा नहीं करती। वह उपहास करती है। यहाँ कोई अतिरंजना भी नहीं है। यहाँ परिस्थितियों का बयान है। और साथ ही अज्ञानी पर गहरा व्यंग्य यहाँ है। लेकिन

यहाँ व्यंग्य अदृश्य रूप में उपस्थित है। चेला यदि अज्ञानी है तो वह हो सकता है। परन्तु गुरु के पास तो ज्ञान दृष्टि होनी ही चाहिए। चेले को सोच-समझकर अपना गुरु चुनना चाहिए और गुरु को भी ऐसा गुरुतर दायित्व नहीं लेना चाहिए। इस स्थिति पर सिर्फ हँसा जा सकता है और यही काम कबीर की कविता करती है। इन पंक्तियों में निशाना नासमझ गुरुओं और उनसे भी नासमझ शिष्यों पर है, परंतु यह चेतावनी और उपदेश उनके अपने पाठकों के लिए भी है। यही पाठक और श्रोता इन विचारों में कबीर के सहभागी हैं। यहाँ व्यंग्य सधा हुआ है। यहाँ सतही स्तर पर अपने श्रोताओं से संवाद है। इस संवाद में कहीं कोई व्यंग्य दिखाई नहीं देता, क्योंकि यहाँ कटुता नहीं है। लेकिन विश्लेषण करने पर उस व्यंग्य को खोला जा सकता है। इसी तरह कबीर एक अन्य साखी में कहते हैं–

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ।।

मध्ययुग में पोथी पढ़ने का काम पंडित और मौलवी ही कर पाते थे। सामान्य जनता तो निरक्षर थी। फिर दलितों को तो वेद शास्त्र पढ़ने की अनुमति भी नहीं थी। इस स्थिति में पढ़े लिखे लोगों के मन में अहंकार आना स्वाभाविक था। कबीर ने उनके इस अहंकार पर चोट की। पढ़-पढ़ कर भी अंत में ज्ञान प्राप्ति नहीं हो पाई तब पढ़ने का क्या लाभ? यदि शास्त्र पढ़कर व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाए तो उसकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। वह तो होता नहीं। तब इस निरर्थक कार्य का क्या फायदा। इससे तो अच्छा है कि पीव से अर्थात राम ब्रह्म से प्रेम करे। जो यह प्रेम कर पाएगा वही पंडित है।

कबीर सहज कथन में व्यंग्य मिला देते हैं। कबीर मृत्यु की अनिवार्यता को तर्क की तरह से इस्तेमाल करते हैं। उनका मानना है कि जब जीवन अल्प है तो इतना प्रसार करने की क्या आवश्यकता है ? राजा, राव और सुल्तान इतने महलों और धन-धान्य होने के बावजूद मृत्यु को प्राप्त हो गए –

कबीर मंदिर लाश का, जड़िया हीरै लालि।
दिवस चार का पेषणाँ, विनस जाइगा काल्हि।।

लाख का घर बनाया है। हीरे और लाल इसमें जड़े हुए हैं। चार दिन देख लो, कल तो वह ढह ही जाएगा। अमर तो कुछ भी नहीं है। यहाँ कबीर जीवन ज्ञान दे रहे हैं। व्यंग्य भी कर रहे हैं। यह व्यंग्य आम जनता की धन संचय की प्रवृत्ति पर है।

13.4 जीवन ज्ञान से उत्पन्न व्यंग्य

कबीर का व्यंग्य उनके जीवन ज्ञान के भीतर से पैदा होता है। यह व्यंग्य नादान व्यक्ति का बड़बोलापन नहीं है। यह ऐसे कवि का व्यंग्य है, जिसने दुनिया देखी, दुनिया का दुःख देखा है। इस दुःख से और दुनिया से कबीर की कोई सहानुभूति नहीं है। कबीर में कहीं भी भावुकता नहीं है।

कबीर की ऐसी बहुत-सी साखियाँ हैं, जिनमें उन्होंने बेबस व्यक्ति के दुःखों का वर्णन किया है। उनकी कविता में स्वतः ही अभिव्यक्त हो जाता हैः

बासुरि सुख नाँ रैणि सुख, ना सुख सुपिनै माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह।।

यदि थोड़ी देर के लिए इन पंक्तियों के आध्यात्मिक निहितार्थ को नजरअंदाज कर दें, तो यह वास्तविक मनोवैज्ञानिक स्थिति है, जो कभी भी, किसी भी व्यक्ति को हो सकती है। ऐसी स्थिति में कहीं भी कुछ भी अच्छा नहीं लगता। दुःख का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है, यदि कोई कारण दिखाई नहीं दे रहा है, तो उसका निवारण भी सम्भव नहीं है। यह स्थिति मनुष्य की होती है। कबीर ने इस स्थिति की पहचान की है।

कबीर इस ज्ञान के आधार पर व्यंग्य करते हैं। कबीरदास व्यंग्य तभी करते हैं, जब उनको पक्का विश्वास हो जाता है कि सामने वाला व्यक्ति गलत है इसलिए वे निश्चित स्थिति में निश्चित ठिकाने पर चोट करते हैं। जो भ्रम में हैं, नासमझ हैं, जिनको संयोगवश गुरु नहीं मिला ऐसे लोगों पर कबीर मारक चोट नहीं करते। उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं। उनका अज्ञान दूर करने की कोशिश करते हैं।

भीतर और बाहर की असंगति कबीर को पसंद नहीं है और जहाँ इन दोनों में अंतर दिखाई देता है वहाँ कबीर चोट करते हैं।

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति, माँहे महा असाध।।

यहाँ यह भी देखना चाहिए कि कबीर ढोंगी व्यक्ति को कभी सम्बोधित नहीं करते। वे उन्हें इस लायक ही नहीं समझते। वे आत्मीयों को इनकी करतूतों के बारे में सचेत करते हैं। अज्ञानी या ढोंगी को समझाने का कोई लाभ नहीं। वे समझाने-विचारने की सीमा से परे हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में कबीरदास केवल अपनी बात कहने पर जोर देते हैं। इस कथन में उनका विरोध भी स्वतः रेखांकित हो जाता है। कबीर को पढ़ते समय इस बिंदु का ध्यान रखना चाहिए कि कबीर स्पष्ट रूप से विरोध नहीं करते अपितु उनका यह मंतव्य उनके कथन के विश्लेषण से पता चलता है।

हरि बिन झूठे सब ब्यौहार, केते कोऊ, करौ गँवार।। टेक।।
झूठा जप तप झूठा ग्याँन, राम नाम बिन झूठा ध्याँन।
विधि निखेद पूजा आचार, सब दरिया मैं बार न पार।।
इंद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहाँ साच तहाँ माँडै बाद।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, मर्म कर्म सब दिये बहाई।।

जब ईश्वर ही सच है तो उसके बिना मनुष्य के सारे क्रिया-व्यापार झूठे ही हुए। अब कबीर ने मध्यकालीन प्रचलित धर्म साधना पद्धतियों का संकेतों में उदाहरण देकर समझा दिया कि भगवान से लौ लगाने के अलावा सब पाखंड है। जप, तप, ज्ञान, विधि, निषेध, पूजा, अर्चना सब झूठ है। यह सब कबीर की दृष्टि में हिंदू धर्म के पाखंड हैं।

13.5 आक्रामक व्यंग्य

कबीर का यह व्यंग्य अलग तरह का है। कबीरदास जब ढोंगी साधुओं को देखते हैं तो आग-बबूला हो जाते हैं। तब उनमें यह संयम नहीं रहता। ऐसे ही लोगों को देखकर कबीर ने सीधे-सीधे कह दिया 'स्वांग यती का पहरि करि, घरि-घरि मांगे भीख'। कबीर भिक्षाजीवी साधुओं को व्यंग्य का निशाना बनाते हैं, उन्हें कभी 'अच्छा' नहीं समझते हैं। उनके अनुसार, ये लोग यती का 'स्वांग' पहन लेते हैं अर्थात नाट्य के लिए उपयुक्त वेष धारण करते हैं। वस्तुतः कबीर और अन्य निर्गुण संतों ने स्वयं कमा कर खाने वालों को इज्जत दी है, भिक्षावृत्ति को नहीं। फिर भी यहाँ कबीर भीख माँगने पर व्यंग्य नहीं करते। यति का नाट्य करके भीख माँगने पर चोट करते हैं। भीख माँगना तो निंदनीय है ही, यति बनकर भीख माँगना और भी बुरा है। इसलिए उनके व्यंग्य का निशाना ऐसे लोग बनते हैं। लेकिन उसके साथ ही साथ कबीर की सामान्य एवं असहाय व्यक्तियों से सहानुभूति है। असहाय व्यक्तियों के माँग जाँच कर खाने को कबीर बुरा नहीं कहते। उनका मानना है कि यह तो उनका जीवन गुजारने का साधन है। जीवित रहने का उपक्रम है।

मिथ्या विचारकों पर व्यंग्य

कबीर व्यंग्य उन लोगों पर करते हैं जो जानबूझकर जनता में मिथ्या विचार का प्रचार करते हैं। जो लोग वेद, पुराण और स्मृतियों को पढ़ते हैं, संध्या करते हैं, गायत्री मंत्र का जाप करते हैं, षट्कर्म करते हैं, या जंगल में जाकर तपस्या करते हैं, कंद, मूल फल

खाकर जीवन बिताते हैं, या जो रोजा रखते हैं, नमाज पढ़ते हैं 'बाँग देकर' लोगों को सुनाते हैं, वे कबीर की दृष्टि में सार्थक नहीं है। कबीर कहते हैं कि इतना सब करने पर उनको कोई फल नहीं मिलता क्योंकि राम 'हिरदै कपट मिलै क्यूँ साँई'। इनके हृदय में कपट है, तो इनको ईश्वर किस प्रकार और क्यों मिलेगा? बाह्याचारों का विस्तृत विवरण देते हुए कबीर अपने व्यंग्य का आधार बनाते हैं। उनका मानना है कि जिनके हृदय में धोखा है उन्हें मोक्ष फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मन रे सर्‌यौ न एकौ काजा, ताथैं भज्यौ न जगपति राजा।। टेक।।
बेद पुराँन सुमृत गुन पढ़ि गुनि भरम न पावा।
संध्या गायत्री अरु षट करमाँ, तिन थैं दूरि बतावा।।
बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हाँ, कंद मूल खनि खावा।
ब्रह्म गियाँना अधिक धियाँनी, जंम कै पटैं लिखावा।।
रोजा किया निवाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यूँ साँई, क्या हल काबै जावा।।

उस मनःस्थिति में कबीर पंडितों की आलोचना करते हैं। उनका मानना है कि सिर्फ राम-राम करने से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा होता तो प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो जाता। यहाँ कबीर फिर जीवन से दृष्टांत देते हैं, इन दृष्टांतों के बिना यह प्रमाणित ही नहीं होता कि 'पंडित वाद बदंते झूठा।' अर्थात शक्कर कहने से मुँह मीठा नहीं हो जाता, न अग्नि कहने से पाँव जलते हैं। न पानी कहने से प्यास बुझती है और न भोजन कहने से भूख मिटती है। इन्हें प्राप्त करना होता है। पानी पीने से प्यास बुझती है। इसी तरह राम को प्राप्त करने से मुक्ति मिलती है। कबीर एक और उदाहरण देते हैं कि घर का पालतू तोता भी मनुष्य की बोली समझ कर 'हरि' का नाम ले लेता है। तब क्या उसे भी मुक्ति मिल जाती है? दरअसल ऐसे लोगों की सच्ची प्रीत तो 'विषय माया' से है। ये ईश्वर के सच्चे भक्त नहीं है। यदि इनके मन में ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम जाग्रत नहीं हुआ, तो 'बाध्यो जमपुरि जासी'।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि ''कबीर दास का 'पंडित' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरक के सिवा और कुछ जानता ही नहीं, जात-पाँत और छुआछूत का अंध उपासक है, तीर्थ स्नान और व्रत उपवास का ठेठ समर्थक है। तत्वज्ञानहीन, आत्मविचार विवर्धित, विवेक, बुद्धिहीन, अटट गँवार।''

पाँडे कौन कुमति तोहि लागी, तूं राँम न जपहि अभागी।। टेक।।
बेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसै भारा।।
राम नाम तत समझत नाँहीं, अति पड़ै मुषि छारा।
वेद पढ्याँ का यहु फल पाँडे, सब घटि देखैं रांमाँ।
जन्म मरन थैं तौ तूँ छूटै, सुफल हूँहि सब काँमाँ।
जीव बधत अरु धरम कहत हौ, अधरम कहाँ है भाई।।
आपन तो मुनिजन है बैठे, का सनि कहौ कसाई।
नारद कहै व्यास यौं भाषैं सुखदेव पूछौ जाई।।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ राम त्यौ लाई।

बड़े अपनत्व से कबीर पांडे से पूछते हैं कि यह तुम्हें 'कुमति' कहाँ से लग गई? बड़ी मारक चोट है, परंतु कबीर केवल चोट या विरोध नहीं करते, बल्कि असली बात बताते भी हैं। वे 'अभागे' को अर्थात 'भाग्यहीन' को उपदेश भी देते हैं कि तुम राम का नाम जाप करो। वेद-पुराण पढ़ते हो, वह तो ठीक है लेकिन इतना सब अध्ययन करने के बाद भी तुम राम नाम का मर्म नहीं जानते। उनकी इस व्यंग्य शैली की बारीकियों को उद्‌घाटित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं: 'साधारण हिंदू गृहस्थ पर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते हैं और इसीलिए लापरवाही भरी एक हँसी उनके

अधरों पर मानो खेलती रहती है। मानो वे इन अदने आदमियों को इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिन पर आक्रमण किया जा सके। परंतु इस लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज-सहज भाव और एक जीवंत काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान है। सच पूछा जाए तो आज तक हिंदी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी कुछ कह देने वाली शैली और अत्यंत सादी किंतु अत्यंत तेज प्रकाशनभंगी अनन्य साधारण है।'

बाह्याचार का खंडन करते समय कबीर इसी सहज मनःस्थिति में आ जाते हैं। एक पद में कबीर कहते हैं कि देवी-देवताओं की पूजा करते-करते हिंदू मर गए, हज करने के बावजूद तुर्क (अर्थात मुसलमान) मर गए, सिर पर जटाएँ बाँधकर योगी मर गए। केश नोचते हुए भी जैन मुनि मर गए। इतना धन दौलत इकट्ठा किया, फिर भी राजा मर गए, अपने रूप पर मुग्ध नारी भी मर ही गई। पंडित लोग वेद पढ़ते-पढ़ते मर गए अर्थात पढ़ने के बावजूद मृत्यु को प्राप्त हो गए। जब किसी तरह से ये लोग मृत्यु से नहीं बच पाए तब इन बाह्याचारों की क्या सार्थकता है ? वैसे भी मृत्यु मध्यकालीन कविता में सर्वाधिक मुखर रूप में उपलब्ध है। कबीर मुक्ति की अवधारणा के संदर्भ में इन विभिन्न मान्यताओं के विचारकों पर व्यंग्य करते हैं।

कबीरदास सिर्फ हिंदू मतावलम्बियों की ही आलोचना नहीं करते, वे इसी भाव से मुस्लिम मतावलम्बियों की भी आलोचना करते हैं। यहाँ वे एकदम सहज और निश्चित हैं। काजी की आलोचना वे पंडित की भाषा में ही करते हैं –

काजी कौन कतेब बषांनै।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानैं।। टेक।।

दिन बीत गए कुरान पढ़ते-पढ़ते, तब भी उस एक अल्लाह की गति समझ में नहीं आई। जब अब तक कुछ समझ में नहीं आया, तब आगे क्या समझ में आएगा ? जबरन सुन्नत कर सकते हो, परंतु उसे मेरा मन थोड़े ही स्वीकार करेगा –

जौर षुदाई तुरक मोहिं करता, तौ आपै कटि किन जाई।
हौं तौ तुरक किया करि सुनति, तो औरति सौं का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिए।।

यहाँ कबीर तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि यदि खुदा मुझे तुर्क बनाना चाहता तो स्वयं ही शरीर के इस अंग को वैसा ही बना देता। चलो इसे भी छोड़ देते हैं, फिर औरतों के संदर्भ में क्या कहेंगे? उनकी तो सुन्नति नहीं हो सकती। अब औरत के बिना तो किसी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में औरत तो हिंदू ही रह गई। इसका अर्थ यह भी निकला कि मुसलमानों की आधी आबादी हिंदू ही रह गई। तर्क को इस स्तर पर लाना उनकी व्यंग्य कला का ही नमूना है। जाहिर है कि यह इस्लाम की दार्शनिक आलोचना नहीं है। कबीर दार्शनिक आलोचना नहीं करते। व्यंग्य करते समय तो वे ऐसा बिलकुल नहीं करते। फिर वे खंडन पर रुकते नहीं। वे एक मौलिक प्रश्न उठाते हैं कि हिंदू और तुर्क दोनों कहाँ से आए और किसने यह रास्ता चलाया, इस पर विचार करने के लिए उनका व्यंग्य प्रेरित करता है।

यहाँ कबीर सभी जातियों और धर्मों की एकता पर बल देते हैं और सभी सम्प्रदायों की मूलभूत एकता पर बल देने के लिए बाह्याचारों का खंडन करते हैं। वे कहते हैं –

ऐसा भेद बिगूचनि भारी। वेद कतेब दीन अरु दुनियाँ कौन पुरिष कौन नारी ।।
एक बूंद एकै मल मूतर एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उत्तपनाँ, कौन बाँह्मन कौन सूदा।।

यहाँ कबीर मनुष्य जाति की मूलभूत एकता का सब आधार स्पष्ट करते हैं और तर्क देते हैं कि सबमें एक जैसा खून, मल-मूत्र और चमड़ी है। जब सब एक ही समान हैं तब 'ब्राह्मण' और 'सूदा' का भेद कहाँ से आया। यह भेद तो कृत्रिम है। सभी लोग माटी के पिंड है। इसलिए कबीर सबको कहते हैं–

'कहै कबीर एक राँम जँपहु रे हिंदू तुरुक न कोई।' इसी आधार पर कबीर जात-पाँत का भी खंडन करते हैं –

जे तूँ बाँभन बांमनी जाया, तौ आँन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।

कबीर यह तर्क देते हैं कि ये भेद कर्ता ने नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य ने किए हैं, इसलिए यह भेद प्राकृतिक नहीं है। सहज नहीं है। यदि किसी को अपने ब्राह्मण होने का गर्व है कि उसका जनम ब्राह्मणी माता के गर्भ से हुआ है तो उसका जन्म उसी तरीके से क्यों होता है, जिस प्रकार अन्य जाति के व्यक्ति जन्मते हैं यदि वे श्रेष्ठ हैं तो वे संसार में अपने आने या जन्म लेने के लिए कोई नया रास्ता क्यों नहीं चुन लेते। यदि तुर्क को अपने तुर्क होने पर घमंड है तो वह माता के गर्भ में ही सुन्नत करवाकर क्यों नहीं आता। जन्म के पश्चात सुन्नति करवा कर भेद उत्पन्न करने का क्या अर्थ है ? इस व्यंग्य के बाद कबीर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तम और मध्यम कोई भी नहीं है। मध्यम तो वह है जिसके मुँह में राम नहीं है, अर्थात जो परब्रह्म की भक्ति में लीन नहीं है, शेष सब समान हैं।

यहाँ कबीर व्यंग्य करते हैं, व्यंग्य में तर्क करते हैं। जाहिर है कि तर्क बहुत आक्रामक और कठोर है। यह कठोरता शायद इसलिए है क्योंकि कबीर मानते हैं कि सामने वाला सीधी सरल और सत्य बातों को समझने के लिए तैयार ही नहीं है। अतः एक ही बार में उसे चुप करने के लिए कठोर वचन आवश्यक है। कबीर यह भी नहीं चाहते कि इन मुद्दों पर कोई बहस हो।

मुल्ला का विरोध करते हुए कबीर कहते हैं कि तुम्हारे बाह्याचारों से जीव के भ्रम का निवारण नहीं हो पाता। इसलिए तुम स्वयं ही न्याय कर लो–

मुलाँ कर ल्यौ न्याव खुदाई, इहि बिधि जीव का भरम न जाई।। टेक।।
सरजी आँनैं देह बिनासै माटी बिसमिल कींता।
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता।।
बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा झूठा जोनि बिचारै।
सब घटि एक एक करि जाँनै भौ दूजा करि मारै।।
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक हक करि बोलै।
सबै जीव साँई के प्यारे, उबरहुगै किस बोलै।।
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हाँ उसदा षोजन जाँनाँ।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दो जग ही मन माँनाँ।।

कबीर मांसाहार और जीव हत्या का समर्थन नहीं करते। जो ऐसा करते हैं, उनकी कबीर निंदा करते हैं। उन पर चोट करते हैं। कबीर तर्क करते हैं कि जब व्यक्ति किसी जीव को लाता है और उसके शरीर को नष्ट कर देता है तब भी प्राण या आत्मा को कोई मार ही नहीं सकता। वह तो वैसे ही अजर अमर है। इसका अर्थ हुआ तुम उसकी माटी का ही बिसमिल करते हो अर्थात उसकी माटी की ही बलि करते हो। कबीर मानते हैं कि सभी जीव माटी के पुतले हैं। अब फिर कबीर तर्क करते हैं कि बलि देने के उपरांत हलाल करने वाले को वह ज्योति स्वरूप जीव या आत्मा तो मिली नहीं है, फिर उसे मिला क्या ? फिर उसके हलाल करने का क्या प्रयोजन ? इस तरह हम देखते हैं कि कबीर के तर्कों के निष्कर्ष कबीर की मान्यताओं से निकलते हैं और ये मान्यताएँ पृष्ठभूमि में ही रही है। वे कुछ प्रश्नों को खुला रखते हैं और चिंतन के लिए प्रेरित करते हैं।

आगे फिर कबीर तर्क का पैंतरा बदल देते हैं। कबीर कई बार कह चुके हैं कि वेद और किताब (कुरान) पढ़ने का क्या फायदा ? यहाँ वे वेद और कुरान का विरोध नहीं करते। वे इन शास्त्रों में निहित मान्यताओं का समर्थन करते हैं। वे उनका विरोध करते हैं जो इनके भीतर निहित विचार पर गहन चिंतन नहीं करता, करना नहीं चाहता या उस विचार की बारीकियों को समझ नहीं पाता। तर्क के इस स्थान पर कबीर पुनः स्थापित करते हैं कि सभी घटों में अर्थात सबके शरीर में एक ही परमतत्व व्याप्त है। सभी जीव ईश्वर के अंश हैं, फिर दूसरे जीव की हत्या करने का कोई प्रयोजन नहीं। बकरी और मुर्गी में भी तो वही परमपिता परमेश्वर है जो तुम्हारे भीतर है। इस अभेद का ज्ञान होना चाहिए। इस पर व्यक्ति ध्यान नहीं देता। विडम्बना है कि मुर्गी और बकरी को मारते हैं और यह दुहाई देते रहते हैं कि धार्मिक कार्य कर रहे हैं। अब इस पाप से कैसे बच पाएँगे। कबीर इसी बहाने सचेत करते हैं कि वास्तव में हृदय पवित्र नहीं है और इसलिए जीव परमात्मा को पहचान नहीं पाता। उसका मर्म नहीं समझ पाता। इन्हीं कर्मों के कारण वर्ग को छोड़कर नरक की तरफ अग्रसर होने लगता है।

कबीरदास अपने समय के लगभग उन सभी धर्मों और मतों और सम्प्रदायों की आलोचना करते हैं जो बाह्याचार और आडम्बर करते हैं। वे कहते हैं कि नंगे बदन रहने और कपड़ा पहनकर रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क इस बात का पड़ता है कि आप परमात्मा को पहचानते हैं या नहीं। कुछ लोग अपने धर्म में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और प्रचार करते हैं कि नग्न रहने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। कबीर उन लोगों पर चोट करते हुए तर्क करते हैं कि यदि नंगा घूमने से मुक्ति मिलती तो जंगल के जानवर मृग आदि को तो मुक्ति अवश्य मिल गई होगी, क्योंकि वे तो अपने शरीर को ढँक नहीं पाते। यह तो सिर्फ मनुष्य करता है। इसी तरह कुछ लोग मंदिर में जाकर अपना सिर मुँड़वाते हैं। यदि इसका कुछ फायदा होता तो सारी भेड़ें स्वर्ग पहुँच गई होतीं। बार-बार मूँडने से भी भेड़ तो बैकुंठ नहीं जा पाती। कुछ लोग ब्रह्मचारी रहने का आडम्बर रचते हैं। उनके तर्क का खंडन करते हुए कबीर कहते हैं कि तब तो बधिया किया हुआ जानवर ही स्वर्ग का अधिकारी हुआ। कबीर ऐसे सभी बाह्याडम्बर में लिप्त मनुष्यों पर व्यंग्य करते हुए उनके तर्कों का खंडन करते हैं। खंडन करने के लिए जीवन के विविध प्रसंगों का इस्तेमाल करते हैं। इससे कबीर की गहन और व्यापक अनुभव क्षमता का एहसास होता है। अपनी कविताओं में वे जीवन के विविध अनुभवों को उपस्थित करते हैं और अपना पक्ष रखते है कि राम के नाम के बिना किसी भी व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के व्यंग्य पर बारीक टिप्पणी की है– 'व्यंग्य वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्त्ता थे।' अपने मत के समर्थन में द्विवेदी जी ने कबीर का यह पद उद्धृत किया है। इस पद में कबीर का मारक व्यंग्य अपने पूरे वैभव के साथ दिखाई पड़ता है।

न जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है ?
चिउँटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।।
अंतर तेरे कपट-कतरनी, सोय भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है।।
चलने का मनसूंबा नाहीं, रहने को मन करता है।
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में धरता है।।

जेहि लहना है सो लै जइहै, पापी बहि बहि मरता है।
सतवंती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है।।
जेहि घर साधू भीख न पावै, मँडुआ खात बतासा है।।
हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

यह पद संवाद शैली में है। यह मुल्ला और पंडित को एकसाथ सम्बोधित है। इनकी अलग-अलग आलोचना भी कबीर करते हैं; लेकिन उनमें सामंजस्य भी बिठाते चलते हैं। एक तरफ मुल्ला है, मौलवी है जो रोज मस्जिद में अजान देता है। कबीर उससे पूछते हैं कि क्या तुम्हारा साहब (या अल्लाह) बहरा है जो इतना जोर से आवाज देते हो। यह चोट करके कबीर अपनी मान्यताओं पर आ जाते हैं। ईश्वर तो सर्वव्यापी है। घट-घटवासी है। एक चींटी के पैर में भी यदि 'नेवर' बजाता है तो उसे साहब सुन लेता है। एक तो चींटी इतना छोटा जानवर है कि उसके पैर कभी दिखाई नहीं देते। फिर उस पर नेवर कैसे बँधा होगा? चींटी के नेवर की ध्वनि की कितनी बारीक कल्पना कबीर ने यहाँ की है। ऐसी ध्वनि भी साहब सुन सकता है। जब ईश्वर घट-घट वासी है तो आपके भीतरी भावों को भी तो जानता समझता होगा? उसको पता चल गया होगा कि तुम्हारे हृदय के भीतर कपट की कैंची है। दूसरों का सुख-दुःख, धन-सम्पत्ति काटने की फिराक में तुम रह रहे हो। बाहर तो दूसरे लोगों को दिखाई नहीं देता। परंतु ईश्वर को सब कुछ दिखाई-सुनाई देता है। इस तरह अनेक उदाहरण देकर वर्तमान जीवन की जटिलताओं की पहचान कर और जहाँ आवश्यकता महसूस हुई, वहाँ व्यंग्य की चोट करके अपने मत को कबीर पुष्ट करते हैं।

13.6 सारांश

कबीर के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी निडरता। जिस युग में धर्म और धार्मिक व्यवहार सब प्रकार के विवादों से परे थे उस समय कबीर ने मूर्ति पूजा का विरोध किया और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि पत्थर पूजने से तो अच्छा है उस चक्की को पूजो जिससे अनाज पीसकर संसार खाना खाता है। इसी तरह मस्जिद की भी आलोचना की। यह निडरता कबीर में अपनी दार्शनिक मान्यताओं से आई है, जो ईश्वर को निराकार और सर्वशक्तिशाली मानती है। ध्यान में रखा जाना चाहिए कि कबीर अपने जमाने में निरीश्वरवादी नहीं थे। अधार्मिक भी नहीं थे। ईश्वर में उनकी गहरी आस्था थी। यही कारण है कि वे ईश्वर के नाम पर फैलाए जा रहे पाखंड की इतनी कटु आलोचना कर सके।

कबीर का व्यंग्य उन सभी बाह्य दीवारों पर है जो केवल दिखावा मात्र है, ईश्वर को पाना जिससे नामुमकिन है। वे दूसरों को दुखी करने या नीचा दिखाने के लिए व्यंग्य का प्रयोग नहीं करते अपितु दूसरों को समझाने के लिए व्यंग्य करते हैं। वे मानते हैं कि इस संसार में 'घणे मनिष मतिहीण' हैं। कबीर मतिहीनों को सही मार्ग सुझाने के लिए अपनी बात कहते हैं, व्यंग्य का सहारा लेते हैं और तार्किक विश्लेषण करते हैं। इसी कारण कबीर आज भी आमतौर पर जनता के बीच इतने लोकप्रिय हैं।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर के काव्य में सहज तथ्य कथनों के भीतर निहित व्यंग्य की विविध छवियों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
2. कबीर के व्यंग्य की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।